...त्रार्थ पंचक

...का) के ५ शास्त्रार्थों का संग्रह]

उद् वीराणां जयतामेतु घोषः (वेद)

माधव-पुस्तकालय

१०३ ए. कमला नगर, दिल्ली-७

शास्त्रार्थ-पंचक

नैरोबी (अफ्रीका)

शास्त्रार्थ महारथी

श्री पं० माधवाचार्य शास्त्री

और

महाशय बालकृष्ण शर्मा, बम्बई निवासी,
सभापति आर्य विद्वत्सम्मेलन (दयानन्द जन्म शताब्दी मथुरा)

के मध्य में

होनेवाले. पांच शास्त्रार्थों का संग्रह।

—०—

प्रकाशक—

माधव-पुस्तकालय

१०३ ए, कमलानगर दिल्ली-७

तृतीयबार १०००] संवत २०३२

मुद्रक—श्रीकण्ठ शास्त्री, धर्मप्रेस कमलानगर दिल्ली

दो शब्द

जे पर भणिति सुनत हर्षाहीं * ते नरवर थोरेउ जग माहीं ।

यह पुस्तक उन पंडित महानुभावों के लिये प्रकाशित नहीं की जा रही है जो कि अपनी तर्क तोमर की तीव्र धार से बाल की खाल उतार डालने की शक्ति रखते हुए भी पुराण निन्दकों की उपेक्षा कर सकते हैं, तथा नाहीं उन धन कुबेरों के लिये है जो कि गुदगुदे गदेलों पर धन की पीनक में ऊंघते हुये मरने की भी फुरसत नहीं रखते और पुराण साहित्य पर निरन्तर चलते हुए कुठाराघात का जिन्हें स्वप्न में भी ध्यान नहीं आता । किन्तु यह पुस्तक उन लोगों के लिये है, जो पुराणों की रक्षा द्वारा अपने पूर्वजों की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए हृदय—और हृदय में कर्तव्य पालन का बल रखते हों !

हमारा यह दावा कदापि नहीं कि इस पुस्तक में जो कुछ लिखा है वह 'ब्रह्मवाक्य' है, बल्कि वह मिथ्या लांछनों से पुराण रक्षण का पथप्रदर्शन मात्र है, वह कहां तक सुव्यवस्थित हैं यह तो पाठक ही निर्णय करें—परन्तु पुराणनिन्दकों के हवाई किलों को छिन्न भिन्न करने के लिये रामवाण है । ऐसा मेरा अनुभव है ।

मैं बड़ा ही प्रसन्न हूंगा यदि कोई लिक्खाड़ इसकी युक्ति-युक्त आलोचना करने को कलम उठाये, परन्तु यह विस्मरणीय

नहीं होगा कि–जहां तक इस पुस्तक का सिद्धान्तों से सम्बन्ध है वहां तक–इसकी प्रत्यालोचना का उत्तरदातृत्व किसी संस्था विशेष पर न होकर एक मात्र मुझ पर है, जिसके लिए आवश्यकता पड़ने पर मैं अभी से तैयार हूँ।

न मैं लेखक हूँ, न ग्रन्थकार हूं, पुराणों के पारायण का व्यसनी अवश्य हूं। गुसाँईजी ने उपर्युक्त पंक्तियों में जगत् को 'नरवर' शून्य नहीं कहा है, यह वात दूसरी है कि—है 'थोरेउ'—वस ! इसी आशावाद के सहारे यह लघु पुस्तक लेकर समालोचक-चक्र-चूड़ामणियों के सामने उपस्थित होने का साहस किया है।
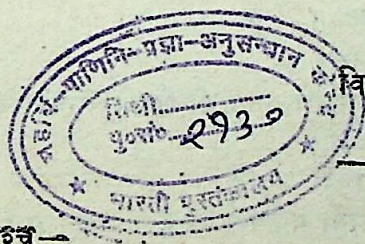
विनीत—

—माधवाचार्य

पुनश्च—

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण सं० १९८५ में प्रसिद्ध आर्यनेता श्री ला० जगतनारायण (भू० पू० शिक्षा मन्त्री पंजाब) के 'विरजानन्द प्रेस' लाहौर में छपा था, वही इसके मुद्रक थे। दूसरा संस्करण धर्मप्रेस में छपा था। पुनः यह तीसरा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। इससे इसकी उपादेयता का अनुमान किया जा सकता है। आशा है पाठक अब भी इसे पूर्ववत् अपनायेंगे।

प्रकाशक—

दो शब्द

जे पर भणिति सुनत हर्षाहीं * ते नरवर थोरेउ जग माहीं ।

यह पुस्तक उन पंडित महानुभावों के लिये प्रकाशित नहीं की जा रही है जो कि अपनी तर्क तोमर की तीव्र धार से बाल की खाल उतार डालने की शक्ति रखते हुए भी पुराण निन्दकों की उपेक्षा कर सकते हैं, तथा नाहीं उन धन कुबेरों के लिये है जो कि गुदगुदे गदेलों पर धन की पीनक में ऊंघते हुये मरने की भी फुरसत नहीं रखते और पुराण साहित्य पर निरन्तर चलते हुए कुठाराघात का जिन्हें स्वप्न में भी ध्यान नहीं आता। किन्तु यह पुस्तक उन लोगों के लिये है, जो पुराणों की रक्षा द्वारा अपने पूर्वजों की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए हृदय-और हृदय में कर्तव्य पालन का बल रखते हों !

हमारा यह दावा कदापि नहीं कि इस पुस्तक में जो कुछ लिखा है वह 'ब्रह्मवाक्य' है, बल्कि वह मिथ्या लांछनों से पुराण रक्षण का पथप्रदर्शन मात्र है, वह कहां तक सुव्यवस्थित है यह तो पाठक ही निर्णय करें—परन्तु पुराणनिन्दकों के हवाई क़िलों को छिन्न भिन्न करने के लिये रामवाण है। ऐसा मेरा अनुभव है।

मैं बड़ा ही प्रसन्न हूंगा यदि कोई लिक्खाड़ इसकी युक्ति-युक्त आलोचना करने को कलम उठाये, परन्तु यह विस्मरणीय

नहीं होगा कि—जहां तक इस पुस्तक का सिद्धान्तों से सम्बन्ध है वहां तक—इसकी प्रत्यालोचना का उत्तरदातृत्व किसी संस्था विशेष पर न होकर एक मात्र मुझ पर है, जिसके लिए आवश्यकता पड़ने पर मैं अभी से तैयार हूँ।

न मैं लेखक हूँ, न ग्रन्थकार हूं, पुराणों के पारायण का व्यसनी अवश्य हूं। गुसांईजी ने उपर्युक्त पंक्तियों में जगत् को 'नरवर' शून्य नहीं कहा है, यह बात दूसरी है कि—है 'थोरेउ'—बस ! इसी आशावाद के सहारे यह लघु पुस्तक लेकर समालोचक-चक्र-चूड़ामणियों के सामने उपस्थित होने का साहस किया है।

विनीत—

—माधवाचार्य

पुनश्च—

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण स० १९८५ में प्रसिद्ध आर्यनेता श्री ला० जगतनारायण (भू० पू० शिक्षा मन्त्री पंजाब) के 'विरजानन्द प्रेस' लाहौर में छपा था, वही इसके मुद्रक थे। दूसरा संस्करण धर्मप्रेस में छपा था। पुनः यह तीसरा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। इससे इसकी उपादेयता का अनुमान किया जा सकता है। आशा है पाठक अब भी इसे पूर्ववत् अपनायेंगे।

प्रकाशक—

विषय-सूची

श्रीगणेशाय नमः

जिस पुरुष ने एक बार भी आर्य्यसमाज के पांचवें वेद सत्यार्थ प्रकाश को पढ़ा होगा वह इस बात से खूब परिचित होगा कि आर्य्यसमाज का बुनियादी पत्थर धर्म्माचार्य्यों की पगड़ियें उछालने देवी देवता और अवतारों की निन्दा करने तथा संसार में शुष्क और व्यर्थ तर्क के आश्रय से आस्तिकता का समूलोन्मूलन करने, और वैदिक हिंदूधर्म की वास्तविकता का विनाश करके पश्चिमी सभ्यता फैलाने के लिए रक्खा गया था। जिस मत का प्रवर्त्तक श्री वेदव्यास जी को कसाई[1] भक्त शिरोमणी प्रह्लाद जी को मूर्ख[2], हजरत ईसा को जंगली[3], श्री गुरु नानकदेव जी को दंभी[4], हजरत मुहम्मद साहिब को व्यभिचारी[5], और इसी प्रकार अन्यान्य सभी संप्रदायों के मान्य पुरुषों को बुराभला कह सकता है तो उस मत के अनुयायी 'गुरु तो गुड़ ही रहे चेला चीनी बन

टिप्पणी—[१] सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ३६६
[२] " " " ३५३
[३] " " " ५५३
[४] " " " ३७८
[५] " " " ६०२

गए' के अनुसार यदि संसार में प्रतिदिन गाली प्रदान के दुर्व्यवहार से नया नया झगड़ा खड़ा करें तो इस में आश्चर्य ही क्या हो सकता है।

आज से ३६ [सम्प्रति ८४] वर्ष पूर्व भारत गवर्नमैंट ने पेशावर[1] अदालत द्वारा जिस मत के थोथे पोथे-सत्यार्थ प्रकाश को

---

१ पेशावर अदालत का निर्णय

मुद्दई—मे ;रचन्द मेम्बर आर्यसमाज पेशावर।
मुद्दाइला—गंगा प्रसाद सनातन धर्मी।

अदालत

मौलवी अंजाम अली खां साहेब मजिस्ट्रेट दर्जा अव्वल पेशावर।

जेरदफा $\frac{50}{502}$

ता० ८ दिसम्बर सन् १८६१ ई०

"इस बात से इन्कार नहीं हो सकता कि दयानन्द की खास किताब [सत्यार्थ प्रकाश] में व्यभिचार की तालीम मौजूद है, मुद्दई खुद इस बात को मंजूर करता है कि वह उन नियमों पर-जिन में विवाहित स्त्री को अपने असली पति के जीते जी किसी अन्य पुरुष विवाहित के साथ भोग करने की आज्ञा है–विश्वास रखता है, यह रिवाज वेशुभह व्यभिचार है। इस वास्ते यह जिक्र करते हुए कि दयानन्द के शिष्य इन उपरोक्त नियमों पर विश्वास लिए रस्म व्यभिचार का आरम्भ कर रहे हैं। और अगर इन नियमों पर इनका विश्वास इसी तरह रहा तो यह इस जिनाकारी को ज्यादा तरक्की देंगे मुद्दाअलेह ने सचाई से एक प्रकट बात को प्रकाशित किया है।"

नोट—समाजियों ने इस फैसले की अपील की। जज साहिब बहादुर ने इस अपील को खारिज करते हुए नीचे लीखा रिमार्क दिया।

"निहायत फोश" बताते हुवे दयानन्दियों को व्यभिचार फैलाने वाला फिरका करार दिया हो। तथा जगत्प्रसिद्ध सत्यवादी भारत हृदयसम्राट् महात्मा गाँधी[1] ने सन् १९२४ में अपने पत्र 'यंग इंडिया' में जिस फिरके को 'झगड़ालू' होने का सर्टिफिकेट दिया हो, उसे हम क्या—समस्त सभ्य संसार ही घृणित दृष्टि से देखे बिना नहीं रह सकता।

"दयानन्द के नियम ऐसे नियम हैं कि वे हिन्दूधर्म तथा दूसरे मजहबों की निन्दा करते हैं और इस किताब (सत्यार्थप्रकाश) के चन्द हिस्से खुद भी निहायत फुहश है।"

१ महात्मा गान्धी की सम्मति

"आर्यसमाज के बाईबिल सत्यार्थप्रकाश को मैंने दो बार पढ़ा, जब मैं यरवड़ा जेल में आराम कर रहा था तब उसकी तीन प्रति कुछ मित्रों की तरफ से भेजी गई थीं, ऐसे महा सुधारक (स्वामी दयानन्द) का लिखा हुआ इतना निराशा जनक पुस्तक मैंने दूसरा नहीं पढ़ा।

उन्होंने सत्यकी और नग्न सत्यकी हिमायत करने का दावा किया है परन्तु ऐसा करते हुए उनसे जान बूझ कर या बिना जाने जैन धर्म इस्लाम, ईसाईमत और खुद हिन्दु धर्म के अर्थ का अनर्थ हो गया है। जिसको इन धर्मों का थोड़ा भी ज्ञान होगा वह स्वयं जान सकता है कि इस महासुधारक से किस प्रकार की भूल हो गई है।

आर्यसमाजी संकुचित हृदय और झगड़ालू स्वभाव होने के कारण अन्य मतावलम्बियों के साथ—और जब उन्हें दूसरा कोई न मिले तो आपस में झगड़ा करते हैं।

(यंग इण्डिया अप्रैल सन् १९२४)

इसी झगड़ालू स्वभाव से प्रेरित होकर आर्य समाज नैरोबी ने हिन्दू संगठन की परवाह न करते हुये इंडियन ऐसोसियेशन को धता बता कर हमारे साथ भी 'देवासुर संग्राम' आरंभ कर दिया था, जिसका परिचय आर्य कन्या पाठशाला नैरोबी के लेट हैडमास्टर पं० रोशनलाल शर्मा के नीचे लिखे लेख से मिल सकेगा। यह लेख उक्त महाशय जी की ओर से समाचार पत्रों में प्रकाशित किया गया था उसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं।

'गत अप्रैल में सनातनधर्म प्रतिनिधि सभा पंजाब के महोपदेशक पं० माधवाचार्य शास्त्री अफ्रीका पधारे। आरम्भ में मुम्बासा में आपके दस-बारह भाषण हुए, जिन लोगों ने एक बार भी पंडित जी का दर्शन किया होगा उन्हें यह बताने की आवश्यकता नहीं कि आप किस प्रकार का विद्वत्ता-पूर्ण, गंभीर, ओजस्वी एवं सर्वदल-तोषदायक व्याख्यान दिया करते हैं। पंडित जी की सर्व-प्रियता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि मुम्बासा आर्यसमाज के मंत्री श्री सनाभाई भूला भाई पटेल ने पंडित जी को अवकाश न होने पर भी आग्रह-पूर्वक कई दिन रोक कर व्याख्यानामृत पान किया हिंदू-यूनियन में भी पांच भाषण हुए, सर्विस-लीग के अधिकारियों ने (जिसमें हिन्दु-मुसलमान, खोजा, ईसाई आदि सभी सम्मिलित थे) अपने यहाँ निमंत्रित कर व्याख्यान सुना।

इसके बाद पंडित जी नैरोबी में पधारे। अभी आपको यहां आये दो-चार दिन ही हुए थे कि एक दिन आर्य समाज में महाशय बालकृष्ण का भाषण हुआ। आप सरल स्वभाव से, प्रतिष्ठित सनातनधर्मियों सहित व्याख्यान में गये और महाशय जी के
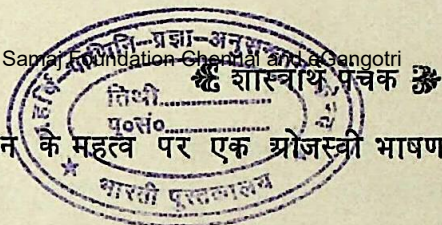
बाद स्वयं भी हिंदू-संगठन के महत्व पर एक ओजस्वी भाषण दिया।

इतने में रामनवमी का उत्सव आ गया। उस दिन स० ध० सभा ने सदा की भांति उत्सव मनाया। हमारे निमंत्रण पर पं० बालकृष्ण सहित समाजी-भाई भी सम्मिलित हुए। पं० माधवाचार्य जी ने अपने भाषण में मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी का चरित्र वाल्मीकीय रामायण के—

राजा दशरथस्य त्वं, अयोध्याधिपतेः प्रभोः ।
विष्णो पुत्रत्वमागच्छ, कृत्वात्मानं चतुर्विधम् ॥

(अयो० १५।१६।२२,)

आदि श्लोकों के आधार पर दो घण्टे तक सुनाया। जिससे जनता प्रेम में गद्गद् हो गयी। बाद में पण्डित बालकृष्ण जी भी चार-पांच मिनट तक बोले, परन्तु आपके शब्द ईर्ष्या से भरे थे। आपने उठते ही फरमाया कि "राम अवतार नहीं थे, इसका खण्डन हम अपने यहाँ सुनाएंगे" आदि। लोग इस अप्रासङ्गिक बेतुकी-बात को सुन कर हैरान रह गये कि आर्यसमाज के पण्डित को क्या हो गया! महाशय जी के इन ईर्षा भरे शब्दों से सनातन-धर्मियों को तो जो दुःख हुआ सो हुआ ही, प्रायः आर्यसमाजी भी इससे अप्रसन्न हुए। आर्यसमाज के प्रधान बाबू बद्रीनाथ ने दूरंदेशी से काम लेते हुए अपने पण्डित की बात सम्भालने के लिये सङ्गठन का भजन गाकर उस समय जैसे-तैसे लीपा पोती की।

इसके बाद सनातनधर्म सभा का वार्षिकोत्सव हुआ जो हर तरह से सफल रहा। पँ० माधवाचार्य जी ने पुराण-फिलासफी के व्याख्यानों का सिलसिला प्रारम्भ किया। व्याख्यानों में समाजी हिन्दू, सिख, मुसलमान, ईसाई, खोजे, सभी मतों के आदमी सम्मिलित होते थे और पुराणों की साइण्टिफिक बातों को बड़ी दिलचस्पी से सुनते थे। विशाल सभा भवन समय से पूर्व ही श्रोताओं से खचाखच भर जाता था। वास्तव में पुराण-फिलासफी लोगों के लिए एक नयी बात थी। इस सिलसिले में अभी व्याख्यान हो रहे थे, कि सिंधी दानियों ने बिना माँगे ही सनातन धर्म पुस्तकालय के लिये थैलियों के मुंह खोल दिये। सटीक अठारह पुराण, सभाष्य षट्-शास्त्र, सभाष्य चारों वेद मंगाने के लिये धन मिला और इस थोड़े से समय में सनातन धर्म सभा के लगभग ६० नये सदस्य बने। उधर समाज के व्याख्यानों में "निर्मक्षिकं वनं' रहने लगा।

तुच्छ-हृदय समाजी हमारी इस सफलता को न सह सके। 'किं कर्तव्य विमूढ़' होकर अपने यहां पुराणों के खण्डन में व्याख्यान आरम्भ करा दिये। लगे गालियाँ देने, वह भी गँवारू और मुँहफट शब्दों में। हमने फिर भी परवाह नहीं की और अपने पुराण-फिलासफी के सिलसिले को बदस्तूर जारी रक्खा। और सनातन धर्म सभा के प्रधान ने आर्यसमाज में जाकर हिन्दू सङ्गठन बनाये रखने के लिये प्रार्थना की, कि जैसे हम अपना मण्डन कर रहे हैं, इसी प्रकार आप भी अपने किसी सिद्धांत का मंडन करते रहें। हमारे और आपके पूर्वज एक ही हैं, कृपया हिन्दुत्व के नाते से ही सही, गाली-गुफ्तार को बंद कर दीजिए।

समाज के मंत्री ने गर्जकर कहा कि 'हम हिंदू नहीं हैं, हिंदू नाम तो चोर-गंवार-लुटेरे का है। आपके व्याख्यानों का प्रभाव हमारे सदस्यों पर पड़ता है उसे दूर करने के लिए हम पुराणों का खंडन अवश्य करेंगे।'

वह समय भी देखते बनता था जब कि एक ओर स.ध. सभा की वेदी पर अपने सिद्धाँतों का मंडन किया जा रहा था और दूसरी ओर हिन्दू-सङ्गठन का गला घोट कर आर्यसमाज की वेदी पर खुराफात मचायी जाती थी। स. ध. की इस अनिर्वंचनीय शांति का फल बहुत मीठा रहा, आर्यसमाज ज्यों २ गाली देता था त्यों २ समझदार लोग उनसे किनाराकशी करते थे।

इतने पर भी जब आर्यसमाज को संतोष नहीं हुआ तो शास्त्रार्थ के लिये चैलेंज लिख भेजा। हमने खुशी से स्वीकार किया और २८-५-२७ को पांच बजे अपने सभा भवन में आ जाने को लिख दिया। फिर क्या था, बस आर्यसमाज के छक्के छूट गये। लगे बायें-दायें झांकने। आर्यसमाज के दो उपदेशक पं० बालकृष्ण और त्रिभुवन वेदपाठी नैरोबी में विद्यमान थे परंतु उन्हें सामने आने का साहस नहीं हुआ और तो क्या समाज को ही उनकी विद्वत्ता पर भरोसा न था। फलतः नियम तय करने के बहाने समय टालने लगे। उधर मणिशङ्कर नामक एक समाजी उपदेशक युगण्डा में घूम रहा था। उसे तार देकर बुलाया गया। वह भी आ गया, परन्तु सामने आने का साहस उसे भी नहीं हुआ !

अब तो शहर में आर्यसमाज को धिक्कार पड़ने लगी। स्वयं चैलेंज दिया और स्वयं निश्चित तिथि पर नहीं पहुंचे।

बार २ लिखने पर भी न हमारे यहां आना स्वीकार किया और न हमें अपने यहां बुलाने को तैयार हुए। फिर एक नयी चाल चली थी। हमारे यहां व्याख्यान के बाद नित्य-प्रति हर एक मनुष्य को शङ्का समाधान करने का अवसर दिया जाता था, समाजी पंडित खुद तो सामने आते घबराते थे, परन्तु अपने महाशयों को प्रश्न सिखा पढ़ा कर परीक्षार्थ भेजने लगे। दो दिन महाशय दौलत राम आये और दो-दो घंटे तक शङ्का निवारण करते रहे। अंत में सनातन-धर्म का लोहा मानना पड़ा। इसी प्रकार मि० सहगल, बाबू अछरूराम, पं० मुन्सीराम आदि आते रहे। आर्यसमाज का ख्याल था कि हम इस प्रकार पं० माधवाचार्य की की विद्या का अन्दाज लगा सकेंगे, परन्तु परिणाम विपरीत निकला। जो २ महाशय आये वे सभी अपने को समाज के दायरे से बाहिर बताने लगे। हमने जब देखा कि आर्यसमाज शास्त्रार्थ से भागना चाहता है तब तो उन्हें उनके किये का फल चखाने के लिये सब बातें समाज पर ही छोड़ कर सामने आने को ललकारा। अब उन्हें भागने का कोई बहाना नहीं बच रहा था, जिससे शास्त्रार्थ तो स्वीकार करना पड़ा परन्तु सामने आ कर नहीं। किन्तु चुपके २ घर ही घर में प्रश्नोत्तर लिख कर ७२ घंटे के अन्दर भेजने की शर्त पर। यहां वह बता देना आवश्यक है कि शास्त्रार्थ का विषय क्रमशः "पुराणों की और दयानन्द-कृत ग्रन्थों की वैदिकता" निश्चित हुआ। स० ध० ने पुराणों का अक्षर २ केवल वेद-मन्त्रों द्वारा वेदानुकूल सिद्ध करना स्वीकार कर लिया, परंतु हमारे बार २ लिखने पर भी समाज ने केवल वेद मंत्रों द्वारा दयानन्दनीय ग्रन्थों की वैदिकता सिद्ध करने से इन्कार कर दिया।"

उपरोक्त लेख से शास्त्रार्थ के उपक्रम पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है, शेष ज्ञातव्य बातें पाठकों को टिप्पणियों से विदित हो जावेंगी।

हमने पत्र व्यवहार से आरंभ करके दोनों पंडित महानुभावों के प्रश्नोत्तरों को यथार्थ रूप में प्रकाशित कर दिया है। जहां कहीं प्रत्यक्ष अशुद्धि दीख पड़ी है वहां मोटे टाइप में उसे दिखा दिया है। दूसरे शास्त्रार्थ के द्वितीय प्रश्न के उत्तर से आरंभ करके शास्त्रार्थ समाप्ति तक का लेख समाजी ने महा अशुद्ध लिखा है। हम उसे ज्यों का त्यों प्रकाशित करने के लिये विवश हैं। हो सकता है कि वह लेख पंडित बालकृष्ण जी ने हिन्दी भाषानभिज्ञ किसी दूसरे महाशय से लिखवाया हो परन्तु हमें क्या स्वत्व है कि हम उनके हस्ताक्षरों से आने वाले लेख को दूसरे का समझें और पंडित बालकृष्ण को अशुद्धियों से मुक्त कर दें।

पाठक! शास्त्रार्थ में जहां तहां कटूक्तियों का भी अनुभव करेंगे। यद्यपि हमारी अपनी राय में—

बाल्ये सुतानां सुरतेऽङ्गनाना,
स्तुतौ कवीनां समरे भटानाम्।
त्वंकारयुक्ता हि गिरः प्रशस्ताः,
... ...॥

के अनुसार वाद-विवाद के समय किसी हद तक कटूक्ति भी क्षन्तव्य समझी जाती है। परन्तु वह औचित्य कोटिका उल्लंघन करने वाली न होनी चाहिए। इन शास्त्रार्थों में कहीं २ औचित्य

का उल्लंघन अवश्य हुआ है। परन्तु निष्पक्ष होकर यह कहना पड़ता है कि इस शैली की पहिल समाज की तर्फ से ही हुई है। पहिले शास्त्रार्थ में सनातन धर्म की ओर से जो उत्तर दिए गए हैं वे कितने सभ्यता पूर्ण और गम्भीर हैं यह पाठक भली भाँति देख सकते हैं, परंतु दूसरे शास्त्रार्थ में हमारे प्रश्नों का उत्तर देते हुवे समाजी ने किस प्रकार प्रकरण विरुद्ध प्रलाप करके उत्तर देने के बजाय सभ्यता का दिवाला निकाला है। यह उस स्थल के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। अन्त में हम सब निर्णय पाठकों पर छोड़ कर लेखनी को विश्राम देते हुवे परमात्मा से प्रार्थना करते है कि वह भूले भाइयों को सुपथ दिखावे, और अपने पूर्वजों का सम्मान करना सिखावे।

विनीत

—प्रकाशक

शास्त्रार्थ पंचक

नैरोबी (अफ्रीका)

अविकल पत्र व्यवहार

आर्यसमाज का चैलेंज

आर्यसमाज
नैरोबी २२ मई १९२७

श्रीमान् मंत्री जी श्रीसनातन धर्म सभा नैरोबी

नमस्ते !

निवेदन है कि जबसे श्री पं० माधवाचार्य जी महोपदेशक प्रतिनिधि सभा लायलपुर यहां पधारे हैं । उन्होंने **अपने व्याख्यान अधिक संख्या में पुराणों पर ही नहीं** दिये किंतु पुकार २ अनेक बार यह कहा है कि मैं पुराणों का एक-एक

शब्द वेदादि शास्त्रानुकूल सिद्ध करूंगा। और मेरा यहां आने का मुख्योद्देश भी यही है। इत्यादि इत्यादि...

आर्यसमाज पुराणों की सामान्य शिक्षा को वेदादि शास्त्र विरुद्ध और मनुष्यमात्र के लिए हानिकारक मानता है। परसों दिन शुक्रवार तिथि २० मई का शास्त्रार्थ विषयक वार्तालाप जो कि हमारी और आपकी सभा के प्रधान लाला नौरियाराम के मध्य में हुआ। तदनुसार आर्यसमाज ने निश्चय किया है कि सर्व साधारण के लाभ को दृष्टि गोचर रखते हुए आपसे प्रथम पुराणों पर ही लिखित शास्त्रार्थ किया जावे। हमारा पक्ष "पुराणों की सामान्य शिक्षा वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध" और आपका 'एक-एक शब्द वेदादि शास्त्रों के अनुकूल सिद्ध करना' होगा।

अतः हम इस पत्र द्वारा लिखित शास्त्रार्थ के लिए चैलेंज [Challenge] देते हैं।

आशा है आप इसे शीघ्र ही स्वीकार करके उत्तर से कृतार्थ करेंगे।

भवदीय उत्तराभिलाशी

बलदेवराज

मंत्री अ० समाज नैरोबी

हमारी स्वीकृति

श्री सनातन धर्म सभा
नैरोबी २२-५-२७

मन्त्री महाशय !

आर्यसमाज नैरोबी

जय श्रीकृष्ण ।

आप के संख्या रहित पत्र के उत्तर में निवेदन है कि हमारे पूज्य पं० माधवाचार्य जी शास्त्री ने पुराणों को वेद मूलक सिद्ध करने के विषय में जो कुछ कहा है वह सनातन धर्म का सनातन सिद्धांत है, अतः हम अपने इस पक्ष को सिद्ध करने के लिए सर्वथा और सर्वदा प्रस्तुत हैं ।

आपने अपने पत्र में हमारे मान्य प्रधान श्री लाला नौहरिया राम जी और समाज के मध्य में २० मई को जो वार्तालाप हुआ था उसके उत्तरार्द्ध की चर्चा करते हुए अपनी मनोवृत्ति का और कम्पित हृदय का खासा परिचय दिया है इसका हमें शोक है ।

वह उत्तरार्द्ध यह था कि समस्त जनता की दृष्टि में स्वामी दयानन्द कृत ग्रन्थ वेद-बाह्य और कपोल कल्पित हैं उनका अस्तित्व प्राणिमात्र के लिये हानिकारक है, दयानन्दी समाज उन्हें वेदानुकूल सिद्ध करे ।

इसलिये हम पुराण विषयक आपके चैलेंज को सहर्ष स्वीकार करते हैं आप जब चाहें प्रश्न उपस्थित करें हम अपने मान्य ११३१ शाखा संसन्न वेदों के मंत्रों से पुराणों को वेदानुकूल सिद्ध करेंगे। इसी प्रकार हम दयानंद कृत ग्रन्थों को वेदबाह्य और कल्पित सिद्ध करेंगे तो आर्य समाज को उन्हें अपने मान्य चतुः शाखात्मक वेद मंत्रों द्वारा वेदानुकूल सिद्ध करना होगा। इस प्रकार जनता उभयपक्ष का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकेगी।

हम चाहते हैं कि शास्त्रार्थ शीघ्रातिशीघ्र आरम्भ हो अतः शेष बातें निश्चित करने के लिए अपने तीन सज्जनों को अधिकार देते हैं। इसी प्रकार आप भी अपने तीन प्रतिनिधि भेज दीजिए जिससे आमने सामने सब कुछ निर्णय हो जाए।

भवदीय

काहन चन्द कपूर

मंत्री-सनातन धर्म सभा नैरोबी

आर्यसमाज का दूसरा पत्र

आर्य समाज नैरोबी

ति० २४ मई, १६२७

सेवा में—

श्री मंत्री सनातन धर्म सभा, नैरोबी,

नमस्ते !

निवेदन है कि संख्या सहित आपका ति० २२-५-२७ का पत्र मिला। बृत्ताँत ज्ञात हुआ।

आपने समाज मन्दिर में जो उभय पक्षों की चर्चा हुई। उस विषय में लिखा है कि आपके प्रधान श्री नौहरियाराम जी ने उक्त चर्चा के उत्तरार्द्ध में जो कहा था उसकी चर्चा न करते हुए हमने अपनी मनोवृत्ति का और कम्पित हृदय का खासा परिचय दिया है।

उक्त आपके लेख को पढ़ कर हमें बड़ा ही आश्चर्य होता है। क्योंकि उस दिन आपके प्रधान जी को हमारे अधिकारियों ने स्पष्ट ही समझा दिया था कि शास्त्रार्थ का विषय एक ही हुआ करता है। यह आप अपने पंडित जी से भी पूछ लीजिये। और यह सर्वत्र युद्धरीति है। इसको कोई भी विद्वान् ना नहीं कह सकता। यदि यह सब चर्चा आपको समझा दी जाती तो पत्र में शोक प्रकट करने का दुःखदायक प्रसंग आप पर न आता।

इतने पर भी एक साथ ही दोनों विषयों पर लिखित शास्त्रार्थ करने का आपका आग्रह हो तो हम इसी प्रकार से शास्त्रार्थ करने को उद्यत हैं।

और आपने प्रामाण्याप्रामाण्य विषय में जो लिखा है वह हमारे सिद्धांतों से विरुद्ध है। हम तो साङ्गोपाङ्ग वेद और उनकी समस्तशाखाओं को तथा मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों को भी प्रमाण मानते हैं। इन ग्रन्थों में परस्पर विरोध आवे तो मूल वेद संहिताओं को स्वतः प्रमाण मानते हैं। इस विषय को आप श्री स्वामी दयानंद जी कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय को देख लीजिये।

शास्त्रार्थ में यह बात उभय पक्षों को स्वीकार करनी पड़ेगी कि यदि कोई पंडित अपने पक्ष की पुष्टि में प्रतिपक्ष के माननीय ग्रन्थों के प्रमाण देगा तो वह भी प्रामाणिक समझे जायेंगे।

आपने अपने पत्र के अंत में दोनों ओर के प्रतिनिधियों को आपके मंदिर में एकत्र होने के लिए लिखा है। परंतु पूर्व दो बार इस विषय में प्रयत्न करने पर भी कुछ भी फल न निकला ऐसा हमारा अनुभव है। इसलिये हम चाहते हैं कि जो कुछ आपको लिखित शास्त्रार्थ के नियमों को निश्चित करने के लिए लिखना हो वह आप पत्र द्वारा ही हमें सूचित करें। [1] हमारी सम्मति में लिखित शास्त्रार्थ में निम्न बातें आवश्यकीय हैं :—

टिप्पणी—१ समाजी स्वयं चैलेंज देकर भी किस प्रकार शास्त्रार्थ से टालमटोल करते थे, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि हम उनके प्रतिनिधियों को निमंत्रण दे रहे हैं, परंतु वे आने को तैयार नहीं।

१. उभय पक्ष के प्रश्नों की संख्या कितनी हो ?

२. जिस विषय पर शास्त्रार्थ हो उस विषय में उभय पक्ष की ओर से कितनी बार प्रश्नोत्तर होने चाहियें ?

३. प्रश्नोत्तर भेजने में उभय पक्ष को कितना समय दिया जावे ?

४. उभय पक्ष के लेखों पर उभय पक्ष के पंडितों के हस्ताक्षर हों। उक्त चार बातों के विषय में आप जो निश्चित करेंगे वही हमको स्वीकार होगा। आपने अपने पत्र में शास्त्रार्थ के लिये जो शीघ्रता प्रकट की है परमात्मा उसको अन्त तक कायम रक्खे।

भवदीय उत्तराभिलाषी
बाबूराम भल्ला
मंत्री आर्यसमाज

हमारा उत्तर

श्री सनातन धर्म सभा
नैरोबी २५-५-२७

मन्त्री महाशय !

आर्य समाज नैरोबी

जय श्रीकृष्ण !

(१) आपका २४-५-२७ को पत्र मिला उत्तर में निवेदन है कि आपने "दयानन्द ग्रन्थ वेद बाह्य हैं" जनता के निर्वाचित

इस विषय पर भी शास्त्रार्थ करने की स्वीकृति दी है इसके लिए साधुवाद है ! यह हमारा "आग्रह" नहीं था वस्तुतः "स्वत्व" है इसे आप एकान्त में बैठ कर सोचियेगा । अस्तु.

(२) (क) प्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में जो आपने चतुः-शाखात्मक वेद मंत्रों द्वारा दयानन्द ग्रन्थों की वैदिकता सिद्ध करना अपने सिद्धान्त के विरुद्ध कहा है, सो आपके सिद्धान्त तो मिरजापुरी लोटे की तरह सदैव मैंदान में आते समय बायें दायें लुढ़क जाया करते हैं, यह नई बात नहीं, जब कि स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ७२ पर—

"(प्रश्न) क्या तुम्हारा मत है ? (उत्तर) वेद अर्थात् जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है उसका हम यथावत् करना छोड़ना मानते हैं, जिस लिए वेद हमको मान्य है इसलिए हमारा मत वेद है ।"

यह दावा किया हो और दयानन्दी समाज इस दावे की ढपली नित्य पीटता हो फिर भला दयानन्दी ग्रन्थों को वेदसंगत करते समय परतः प्रमाण और प्रक्षिप्त-दूषित (बकौल आर्य समाज) ग्रन्थों की शरण में जाना तथा मौके पर उन्हीं ग्रन्थों के निज मत विरुद्ध प्रमाणों के लिए "प्रक्षिप्त" का ढकोंसला लगा कर अपना पिंड छुड़ाने की आशा रखना आपकी वैदिकता का नमूना नहीं है ?

(ख) इसलिए हम आपको दो टूक बता देना चाहते हैं कि जिस प्रकार सनातनधर्म पुराणों को अपने मान्य वेदों द्वारा सुसंगत करने को प्रस्तुत है इसी प्रकार आर्यसमाज को भी दयानन्दी ग्रन्थों को स्वतः प्रमाण 'निर्भ्रान्त' एवं ईश्वरोक्त अपने

मान्य चतुः शाखात्मक वेद मंत्रों द्वारा "वैदिकता" सिद्ध करनी होगी। ऐसा न कर सकने की दशा में जनता के सामने सदा के लिए कह देना होगा कि दयानन्दी ग्रन्थ वेदानुकूल नहीं।

(ग) आपको यह भी तो सोचना चाहिए था कि शास्त्रार्थ का विषय "वेदानुकूलता" है, स्मृत्यनुकूलता, अंगोपाङ्गानुकूलता सूत्रानुकूलता नहीं, इसमें उभय पक्षों को केवल वेद प्रमाण ही देने चाहियें। अन्यथा "प्रतिज्ञा-संन्यास" निग्रह-स्थान आ पड़ता है, जरा न्याय दर्शन के अन्तिम पृष्टों का अध्ययन कीजिये।

(३) आप प्रतिनिधि भेज कर शीघ्र नियम निर्णीत करना नहीं चाहते और कागजी घुड़दौड़ में पड़ कर समय टालना चाहते हैं यह ठीक नहीं, इस लिए हम आपको खुले शब्दों में आह्वान करते हैं, कि आप ति० २८-५-२७ शनिवार को मध्याह्नोत्तर पाँच बजे श्री सनातन धर्म सभा भवन में पधारें। और जनता के सामने आवश्यक नियम तय करलें। एक दिन पूर्व अपने आने की सूचना दें जिससे आपके स्वागत का पूरा प्रबन्ध किया जा सके। या हमें किसी दिन बुला लें तिथि लिख भेजें।

विचारणीय विषय निम्न लिखित् हैं:—

(१) शास्त्रार्थ का विषय "पुराणों और दयानन्द ग्रन्थों की वैदिकता" है अतः दोनों पक्षों को केवल अपने मान्य वेदों के ही प्रमाण देने होंगे अन्य ग्रन्थों के नहीं।

(२) आर्यसमाज हमारे महा-पुराण, पुराण, उप पुराण, और पुराण संहिता नामक ग्रंथों में से किसी एक ग्रंथ को चुनले। इसी प्रकार हमने दयानन्द के समस्त ग्रन्थों में से एकले सत्यार्थ प्रकाश को चुन लिया, यही निर्वाचित ग्रन्थ प्रश्नोत्तर का क्षेत्र

होगा, एक ग्रन्थ का निर्णय होने पर अन्यान्य ग्रन्थ चुने जा सकते हैं।

(३) प्रश्नोत्तर लिख कर आमने सामने खड़े होकर जनता को उसी समय सुना देने होंगे। यथा—आर्यसमाज हमारे यहां आकर निश्चित समय में अपना प्रश्न लिख कर सुनाएगा। सनातन धर्म उसी समय अपना लिखित उत्तर पढ़ सुनाएगा। फिर उस पर जो २ प्रष्टव्य होगा वह भी इसी प्रकार लिखा पढ़ा जायगा। इसी नियम के अनुसार आर्यसमाज की वेदी पर हमारे प्रश्न का उत्तर होगा।

आपकी सम्पत्ति में जो चार बातें आवश्यक हैं वह जनता के सामने हम और आप निर्णय कर लेंगे। रहा हमारी शीघ्रता का अंत तक कायम रहना सो तो "नकटे नक्कू" वाली कहावत को चरितार्थ करना है। दर्शन दीजिए।

भवदीय दर्शनाभिलाषी—
कान्हचन्द कपूर
मन्त्री सनातनधर्म सभा नैरोबी,

आर्यसमाज का तीसरा पत्र

आर्य समाज
नैरोबी तिथि २६-५-२७

सेवा में—
श्री मन्त्री सनातन धर्म सभा
नैरोबी।

नमस्ते! आपका सं० ३।३८२।२७ ति० २५-५-२७ का पत्र मिला। उसमें आपने दोनों शास्त्रार्थ के विषय स्वीकार करने से

जो हमारे विषय में साधुवाद लिखा है, उसके लिए हम आपका अभिनन्दन करते हैं। *न्याय शास्त्र के अनुसार एक ही अधिकरण पर शास्त्रार्थ होना चाहिए। परन्तु आपके आग्रह के लिए ही दोनों विषय शास्त्रार्थ के लिए हमको स्वीकार करने पड़े हैं। इसलिए यह आपका स्वत्व नहीं, आग्रह ही है। स्वत्व शास्त्रीय हो सकता है न कि अशास्त्रीय।

आपने (क) पैरेग्राफ में प्रामाण्याप्रामाण्य विषय में जो हम को मिर्जापुरी लोटे का दृष्टान्त दिया है। वह दृष्टान्त कहां और किस प्रकार घटना चाहिए उसका आपने विचार नहीं किया। सुनिये :—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविलुप्तब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्॥

(मनु० ३ श्लो. २)

उक्त श्लोक में "वेद" शब्द से तत्सबन्धी शाखा आदि पढ़ने का ग्रहण किया है अर्थात् यहां शाखा, अङ्ग, उपाङ्ग सहित "वेद" शब्द आया है। और—

टिप्पणी—*प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धांतविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिप्रक्षपरिग्रहो वादः॥ (न्याय० अ० १, आ० २ सू० १)

एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ प्रत्यनीकभावादस्त्यात्मा नास्त्यात्मेति। नानाधिकरणौ विरुद्धौ न प्रक्षप्रतिपक्षौ यथा नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरिति।। "वात्स्यायनभाष्यम्"॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ।
(मनु २। १०)

इस श्लोक में मनु जी ने 'वेद' शब्द केवल संहिता का वाचक लिया है। इसी प्रकार उक्त श्लोकों के मेधातिथि आदि टीकाकार भी लिख गए हैं। इस प्रकार प्रकरणानुसार 'वेद' शब्द का दो प्रकार से मनु जी ने अर्थ किया है। हमें भय है कि आप मनु जी तथा मनुस्मृति के मेधातिथि आदि टीकाकारों को भी मिर्जापुरी लोटे न कह दें। उक्त मनु जी के कथनानुसार श्री स्वामी दयानन्द जी ने जहां वेदों को ईश्वरीय ठहराया है वहां 'वेद' शब्द केवल संहिता का वाचक लिया जायगा, और जहां 'हमारा वैदिक मत है" ऐसा लिखा है वहाँ वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों में जो वैदिक धर्म प्रतिपादन किया गया है उन सबों को लेकर उन्होंने अपना "वैदिक मत" लिखा है।

अब हम मिर्जापुरी लोटे का दृष्टान्त किस में किस प्रकार घटाना चाहिए यह आपके विचारार्थ यहाँ लिख देते हैं, ताकि पुनः आपसे ऐसो भूल न हो।

जो पण्डित सभा में—

"द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तंच०"

इस उपनिषद् प्रमाण से परमेश्वर को साकार और निराकार दोनों प्रकार से ठहरावे। परन्तु प्रजापति का दुहिता पर कामातुर होना और ब्रह्मादेव के पाँच सिरों में से एक सिर क्रुद्ध शंकर जी की ओर से काटा जाना—इन विषयों पर शंका होने पर स्पष्ट शङ्कर ब्रह्मादेव आदियों को जिनको कि देवी भा०

स्क० ४ अ० १३ में शरीर धारण करने वाले लिखा है अलङ्कार बता कर सबों को शरीररहित कह देने वाला मनुष्य ही मिर्जा-पुरी लोटा कहा जा सकता है। और जो पण्डित पुराणों के एक एक अक्षर को वेदानुकूल सिद्ध करने की अपनी सभा में गर्जनाएं किया करे परन्तु प्रतिपक्ष का लिखित शास्त्रार्थ का चैलेञ्ज आने पर केवल पुराणोंपर शास्त्रार्थ करने से पीछे हट कर सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थ और पुराण इन दोनों विषयों पर न्याय विरुद्ध शास्त्रार्थ करने को कहे, इस को कहते हैं मिर्जापुरी लोटा! अब हमारे उक्त कथन से मिर्जापुरी लोटे का दृष्टान्त कहाँ और किस प्रकार घटाना चाहिये यह आपको मालूम जावेगा।

इसी पैराग्राफ में आपने श्री० स्वा० दयानन्द सरस्वती जी और आर्यसमाज की वैदिता का जो नमूना दिखलाया है इससे मालूम होता है कि आपने निम्नलिखित पूर्व—मीमांसा का सूत्र नहीं देखा है—

'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्'

(पू० मी० २।३।३)

अर्थात् श्रुति से विरोध आने पर स्मृत्यादि ग्रन्थों का अप्रमाण और विरोध न होने पर स्मृत्यादि ग्रन्थों का प्रमाण मानना चाहिए। उसी प्रकार के उक्त सूत्र के भाष्यकार शवर स्वामी ने भी लिखा है कि—श्रुतिविरुद्धा स्मृतिरप्रमाणम्,। यही प्राचीन ऋषियों का सिद्धान्त था। इसी के अनुसार श्री० स्वामी दयानन्द जी और आर्यसमाज वेद विरुद्धांश चाहे किसी ग्रन्थ में हो उसको प्रमाण नहीं मानते। इस में आक्षेप पूर्वक हमारी वैदिकता का नमूना कहना यह आपकी शास्त्रानभिज्ञता है। यदि जिस ग्रन्थ में प्रक्षिप्त श्लोक माने जायं वह ग्रन्थ सर्वथैव प्रमाण कोटि से बहिः

समझा जाय तो अष्टादश पुराणों में सांप्रदायिक विरोध के सैंकड़ों श्लोक आपके विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद जी ने अपने "अष्टादश पुराण दर्पण" में निश्चित प्रक्षिप्त माने हैं। इससे आपके मत में भी अष्टादश पुराण प्रमाण भूत न रहेंगे।

आगे आपने (ख) और (ग) इन दोनों पैरेग्राफों में जो लिखा है उसका सविस्तार उत्तर हम ऊपर दे चुके हैं। वेद कहने से वेदानुकूल ग्रन्थों का भी प्रमाण माना जाता है। यह हमने पूर्व मीमांसा के सूत्र से सिद्ध कर दिखलाया है। और यही प्राचीन ऋषियों से लेकर आज तक सिद्धान्त चला आ रहा है। इस विषय में आपने जो हमारा 'प्रतिज्ञा सन्यास निग्रह स्थान' दिखाया है वह हमारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखता। हम तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों से अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करते रहे हैं और भविष्यत् में भी करते रहेंगे।

आप अपने ति० २२ मई के पत्र के अन्तिम पैरेग्राफ में लिखते हैं कि—

"शेष बातें निश्चित करने के लिए हम अपनी ओर से तीन सज्जनों को अधिकार देते हैं। इसी प्रकार आप भी अपने तीन प्रतिनिधि भेज दीजिए, जिससे आमने सामने सब कुछ निर्णय हो जावे"।

इस से आपका **अभिप्राय** खानगी में शास्त्रार्थ के नियम निश्चित करने का **विचार** स्पष्ट है। और वास्तव में ऐसा ही हुआ करता है। शास्त्रार्थ आरम्भ होने पर उसको सुनने के लिये पब्लिक (Public) की आवश्यकता होती है। परन्तु

आपने अपनी इस प्रतिज्ञा के विरुद्ध ति० २५—५—२७ के पत्र में लिखा है कि:—

"आपकी सम्मति में जो चार बातें आवश्यक हैं वे जनता के सामने हम और आप निर्णय कर लेंगे"।

यहां आपका जनता की आवश्यकता नियमादि स्थिर करने के लिए दिखलाना यह आपका स्पष्ट "प्रतिज्ञा सन्यास निग्रह स्थान" है। हमारा नहीं।

आपने जो कागजी घोड़े दौड़ाने के विषय में अपने पत्र में अनादर प्रगट किया है वह ठीक नहीं। कागजी घोड़े ही सत्य को प्रगट करके अस्तेय की पोल खोल सकेंगे। पुराणों में गणपति की परस्पर विरुद्ध पांच प्रकार की उत्पत्ति दिखाने पर उसके उत्तर में रूपक दिखलाया गया कि वास्तव में गणपति हाथी के शिर वाला नहीं है, किन्तु भिन्न २ भाव द्योतक एक फोटो (photo) है। यदि उस समय कागजी घोड़े काम करने वाले होते अर्थात् लिखित शास्त्रार्थ होता तो रूपकालङ्कार की हास्यास्पद फिलोसफी की कलई खुल जाती। यह आपको स्मरण रहे कि कागजी घोड़े ही सत्यासत्य निर्णय के मुकाम पर हमें पहुँचा सकेंगे मौखिक घोड़े तो उसी समय आकाश में उड़ जाते हैं। उनका पता भी नहीं रहता। इसीलिए आप कागजी घोड़ों से घबराते हैं। अन्त में जो आपने हमारे प्रतिनिधियों को अपने यहां जनता के सामने बुलाने का लिखा है इसका उत्तर तो हमारे इस पत्र के पूर्व के पत्र में स्पष्ट आ गया है। उसके अनुसार आपको जो कुछ सूचना करनी हो वह पत्र द्वारा ही कर सकते हैं। देश और काल के अनुसार दोनों पण्डित

प्रश्नोत्तर अपने-अपने स्थान पर ही लिख कर सुनाया करेंगे। ऐसा करने से जनता में शान्ति भङ्ग को अवकाश न मिलेगा।

आपने अपने पत्र के अन्त में जो विचारणीय ३ (तीन) विषय रक्खे हैं। उनके विषय में हमारा वक्तव्य निम्न प्रकार से है :—

(१) प्रथम विषय का उत्तर हम ऊपर दे आये हैं।

(२) आपने द्वितीय विषय में दोनों पक्षों को उभय पक्ष के एक-एक ग्रन्थ पर प्रश्न करने का लिखा है वह हमको भी स्वीकार है। हमारे प्रामाण्याप्रामाण्य विषय में आपका भ्रम दूर होने पर आपके पुराणादि में से किसी एक का नाम लिख भेजेंगे।

(३) आपके तृतीय विचारणीय विषय का उत्तर हमारे ऊपर के लेख में आ गया है।

आपके पत्र की अन्तिम पंक्तियों में आपने जो लोकोक्ति हम पर आरोपित की है वह "उल्टा चोर कुतवाल को दण्डे" इस कहावत के अनुसार ही है।

भवदीय
उत्तराभिलाषी
बाबूराम भल्ला
मन्त्री आर्यसमाज

हमारा उत्तर

श्रीसनातन धर्म सभा

नैरोबी २८-५-२७

मन्त्री महाशय !

आर्यसमाज नैरोबी

जय श्रीकृष्ण ।

(१) आपके ति० २६-५-२७ सं० १००।२ के पत्र का उत्तर इस प्रकार है। आपसे दयानन्दो ग्रन्थों की वैदिकता पूछना हमारा "स्वत्व" है या "आग्रह" तथा मिर्जापुरी लोटा कौन है? यह जानने के लिए ही तो हमने आपको जनता के सामने मैदान में आने को आह्वान किया था जिससे जनता आपकी और हमारी दो दो बातें सुनकर किसी परिणाम पर पहुंचती। परन्तु आप तो दुम दबाकर गधे के सींग की भान्ति ऐसे रफू-चक्कर हुए कि जिससे लाज भी लजा गई। महाशय जी इस प्रकार बुर्का पहिनकर कब तक कटी नाक को छुपा सकोगे। अगर दम है तो मैदान में आइये।

(२) आपने 'वेदानधीत्य' इत्यादि (मनुः ३।२) में वेद शब्द का अर्थ "शाखा अङ्ग उपाङ्ग सहित" किया है, सो यह अभिधार्थ तो है ही नहीं। यदि लक्षणा से "अङ्गोपाङ्गादि ग्रन्थाध्ययनमन्तरा वेदाध्ययनं न संभाव्यते" ऐसे मुख्यार्थ बाध से तत्सहकारिग्रन्थ सहित किया जावे तब तो सहकारित्व-सामान्येन पुराण भी उसी प्रकार कोटि में आ जाते हैं। जिससे आप प्रतिज्ञा हानि निग्रहस्थान में फंस कर पराजित हो जाते हैं।

वेदार्थज्ञान के प्रति पुराणों की उपयोगिता समस्त आचार्यों ने तथा स्वयं वेद ने स्वीकार की है। यथा :—

*(क) षडंगवत् पुराणादीनामपि वेदार्थज्ञानोपयोगो याज्ञवल्क्येन स्मर्य्यते। उपनिषदुक्ताश्च सृष्टिस्थिति-लयादयो ब्राह्मपाद्मवैष्णवादिपुराणेषु स्पष्टीकृताः। उक्तप्रकारेण पुराणादीनां वेदार्थज्ञानोपयोगाद्विद्या स्थानत्वं युक्तम्। (वेदभाष्योपोद्घाते सायणः)

(ख) पुराणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहास-पुराणस्य प्रामाण्यमभ्युपगम्यते।

(न्यायदर्शने वात्स्यायनः ४।१।६२)

(ग) स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलान्यपि॥

(मनुः २।२३२)

---

*टि० अर्थ—(क) व्याकरणादि वेदांगों की तरह पुराण भी वेद का अर्थ जानने में उपयोगी है। यह याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है। उपनिषद् ग्रन्थों में कही हुई सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति प्रलय आदि 'ब्रह्म पद्म और विष्णुपुराणादि में स्पष्ट की गई है, इस प्रकार पुराण वेदज्ञान के लिये उपयोगी हैं, तथा विद्या के स्थान हैं।

(ख) ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा पुराणों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। (ग) श्राद्ध के दिन वेद धर्मशास्त्र आख्यान इतिहास और पुराणों को (निमन्त्रित ब्राह्मणों को) सुनाना चाहिये।

(घ) अरे अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणम् ।

(बृहदारण्यक० २।४।१७)

(ङ) इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम् ।

(छान्दोग्य ७।२।१)

(च) एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः......सपुराणाः ।

(गोपथपूर्व भागे २।१०)

(छ) ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः ।।

(अथर्ववेदे ११।७।२४)

जब कि इस प्रकार समस्त ग्रन्थों में स्पष्टतया ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण और पद्मपुराण आदि नाम लिखकर वेदों की भान्ति पुराणों का प्रामाण्य स्वीकार किया गया हो फिर भी उनकी वैदिकता पर संदेह प्रकट करना सिवाय नास्तिकता के और क्या कहा जा सकता है।

(घ) वह ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद इतिहास और पुराण सब उसी परमात्मा के निश्वास हैं। (ङ) इतिहास पुराण वेदों में पांचवां वेद है।

(च) इस प्रकार पुराण सहित सब वेद उत्पन्न हुए।

(छ) ऋग्वेद सामवेद और छंदः तथा पुराण सहित यजुर्वेद उस श्रेष्ठ परमात्मा से उत्पन्न हुए, और द्युः लोकस्थ तारागण भी उसी से उत्पन्न हुवे।

इस प्रकार आप ने मनु के उपर्युक्त श्लोक में वेद शब्द का अर्थ 'वेदार्थज्ञानोपयोगी ग्रन्थ सहित' स्वीकार करके पुराणों की वैदिकता को मान लिया जिससे आप के पक्ष का समूलोन्मूलन हो गया।

(३) आगे चल कर आपने "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः (मनु २।१०) में वेद शब्द का अर्थ संहिता भाग किया है, यह भी आप की "देवानां प्रियता" का नग्न नृत्य है। क्योंकि "वेद" शब्द से सर्वत्र मन्त्र ब्राह्मण दोनों भागों का ग्रहण होता है। यथाः—

***(क) मंत्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्।** (इति कात्यायनः।)

(ख) तच्चोदकेषु मन्त्राख्या। शेषे ब्राह्मण शब्दः।

(पूर्व मीमाँसा २। १। ३३)

आप को यह भी स्मरण रहे कि आप के दादा गुरु दयानंद ने इस विषय पर काशी के प्रसिद्ध रईस राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द से शास्त्रार्थ करके मुँह की खाई थी, टी० बो० साहिब्रा का फैसला पढ़ें। आप के पास नहीं हो तो हम से मंगालें।

(४) दूसरे पृष्ठ की सातवीं पंक्ति में आप लिखते हैं कि "वेद शब्द केवल संहिता का वाचक लिया जावेगा"......और जहां "हमारा मत वेद है" ऐसा लिखा है वहां वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों में जो वैदिक धर्म प्रतिपादन किया गया है उन सबों को लेकर उन्होंने अपना मत "वैदिक मत" लिखा है।

---

* टि० (अर्थ) (क) मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहते हैं।

(ख) वेद के प्रेरक वाक्य समूह को मन्त्र कहते हैं, शेष को ब्राह्मण कहते हैं।

यह लेख पढ़ कर हमें आर्यसमाजियों के लिये व्याकरण-शून्य महामूर्ख होने का जो सार्वजनिक प्रवाद है वह सोलहों आने सत्य प्रतीत हुआ, क्योंकि "वेद" शब्द का अर्थ यदि संहिता भाग है तो "वैदिक" शब्द का अर्थ भी संहिता भाग प्रतिपादित ही हो सकता है। जरा व्याकरण के तद्धित प्रकरण का पाठ कीजिये। फिर पता लगेगा कि यह दोनों शब्द किस कोटि के हैं। यदि एसे शब्दों का अर्थ आप के ढंग से किया जाने लगे तब तो "आर्यसमाज" शब्द का अर्थ नियोगादि व्यभिचार को धर्म मानने वाला एक मत, और "आर्यसमाजिक" शब्द का अर्थ तदनुकूल आचरण करने वाले तिब्बती हबशी होगा। क्या आपको यह मान्य हो सकेगा ?

(५) आगे चल कर आप हम पर यह आक्षेप करना चाहते हैं कि हम ईश्वर को साकार और निराकार दोनों प्रकार का मानते हैं, तथा "प्रजापति दुहिता" वाली कथा में आलंकारिक रूप से सूर्य उषा आदि अर्थ करते हैं जिस से प्रजापति आदि निराकार रह जाते हैं, और देवी भागवत में उन्हें साकार लिखा है—यहाँ तो आपने अपनी बुद्धि की बदहजमी का ज्वलन्त प्रमाण ही दे डाला, क्योंकि यदि हम ने * वेद, पुराण, कुमारिल भट्ट, और स्वयं दयानन्दानुमोदित प्रजापति आदि शब्दों के अर्थ उक्त कथा में सूर्यादि किये तो इस से प्रजापति निराकार कैसे बन गया ? क्या सूर्य निराकार है ? धन्य है आप की इस "कौशि-

---

*टि० ऋग्वेद ८।१।१७। शतपथ।१।७।४ १। तन्त्र वार्तिक।१ ३।७। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ २९८।

कता" को जो ८८७८५० मील व्यास वाले सूर्य रूप प्रजापति पर निराकार होने का आक्षेप करते हैं। क्या यह अन्ध-परम्परा विरजानन्द से प्राप्त की हुई पैतृक संपत्ति तो नहीं है ?

(६) आगे चल कर आप ने "विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्" (पू० मी० १। ३। ३।) इस सूत्र की शरण लेकर दयानन्द के वेदबाह्य ग्रन्थों की लीपा पोती हो जाने की दुराशा की है, परन्तु इस सूत्र की चर्चा करने पर तो "गई थी नमाज बक्शाने रोजे गले पड़े" वाली दशा आप की हो गई, क्योंकि यदि आर्यसमाज "असति हि अनुमानम्" के अनुसार स्मृति पुराणदि प्रतिपादित बातों को वेदों में विधि निषेधाभाव होने से तन्मूलक श्रुति का अनुमान मान ले फिर तो पुराणों पर आक्षेप करने का अवसर ही नहीं रहता।

आर्यसमाज की ओर से पुराणों की जिन बातों पर आक्षेप हुआ करते हैं वेदों में उनके विरुद्ध कालत्रय में भी प्रमाण नहीं मिल सकते। अतः उपर्युक्त मीमांसासूत्र के सिद्धान्तानुसार वे सब वेदमूलक सिद्ध हो जाती हैं। यही सनातन धर्म का सिद्धान्त है। यदि समाज भी आज "श्रुत्यनुमान" को मानने लग गया है तब तो लगते हाथों दयानन्द को तिलांजलि दे डालिये। क्योंकि स्वामी जी तो सत्यार्थप्रकाश पृष्ट ७२ पंक्ति १४ में "जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है उसका हम यथावत् करना छोड़ना मानते हैं" ऐसा लिखते हैं। अर्थात् उनके मत में "असति ह्यनुमानम्" के अनुसार स्मृति पुराणादि लिखित—किंतु वेदानुल्लिखित किसी सिद्धान्त के लिए श्रुति का अनुमान नहीं किया जा सकता। केवल वेद लिखित विधिनिषेध ही उन्हें मान्य या अमान्य हो सकते हैं। कहिए ! अब आप झूठे या आपके गुरु घण्टाल !! अथवा दोनों !!!

इसके अतिरिक्त इस सूत्र का आपने जो अर्थ किया है वह सर्वथा अशुद्ध है। आप लिखते हैं कि "विरोध न होने पर स्मृत्यादि ग्रन्थों का प्रमाण मानना चाहिए" "असति ह्यनुमानम्" का यह अर्थ कालत्रय में भी नहीं हो सकता। तात्पर्य्य तो इस अंश का यह है कि "स्मृति पुराणादिप्रतिपादित किसी बात का वेद में (असति)=विधिनिषेधात्मक उभय अभाव होने से तन्मूलक श्रुति का (अनुमानम्)=अनुमान किया जा सकता है।

(७) रही पुराणों के प्रक्षेप की बात सो आप पहिले 'वेदानुकूल" पर निबट लीजिये फिर हम आपको प्रक्षिप्त चर्चा में भी दिन में तारे दिखाने को तैयार हैं।

(८) आपने हमारे २५-५-२७ के पत्र के (ख) और (ग) अंश का उत्तर नहीं दिया। देते भी क्या ? जबकि पिंड छुड़ा कर भागने की पड़ रही है।

(९) हमने पहिले आपके तीन प्रतिनिधि बुलाकर शीघ्र निर्णय करना चाहा था लेकिन जब आप एकान्त में अपने प्रतिनिधियों को भेजते हुए भयभीत होगये तब हमने आपको जनता के समक्ष ललकारा। जिससे आपका एकान्त सम्बन्धी भय दूर हो। परन्तु आप तो नवोढा की भान्ति दोनों तरह हमारे निकट आने में शर्माते हैं। हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि हम स्वामी जी के कथनानुसार जनता के सामने आपके गुह्य छिद्रों का उद्घाटन हरगिज नहीं करेंगे।

(१०) आप हमारे मौखिक घोड़ों की दुलतियों से बड़े परेशान हैं। आपको शिकायत है कि वे आकाश में उड़ जाते हैं

और साथ में दयानन्दी समाज को भी उड़ा ले जाते । हमारे इन घोड़ों का खतरा दयानन्द को भी बेहतर हुआ था । अतः उन्होंने अपने यजुर्वेद भाष्य (३८ । ९) में इस बला से बचने का उपाय लिखा है । आप फरमाते हैं कि "हे मनुष्य यज्ञ स्थल में घोड़े की लीद से तुझको, सम्यक् पकाता हूं" वाह ! आप भी इस नुस्खे पर अमल करें । जो जो आर्यसमाजी पक्का बनना चाहते हों वे घोड़ों की लीद में घुसजावें । इतनी लीद न मिल सके तो कमसे कम नाक तो लीद या लीद के घर में ठूँसलें बस स्वामी जी के कथनानुसार सब पक्के हो जाओगे, फिर हमारे घोड़ों की दुलत्तियें तुम्हें न उड़ा सकेंगी । क्यों ? ठीक है न !

(११) अन्त में आपने अपनी लाचारी प्रकट करते हुए २८-५-२७ को पांच बजे हमारे यहां आने से इन्कार किया है- परन्तु हमें अपने यहाँ बुलाने या न बुलाने का जिक्र नहीं किया । शायद हमारे मौखिक घोड़ों की दुलत्तियों की तड़ातड़ में भूल गये । अस्तु, हम फिर याद दिला देते हैं । यदि आप हमारे यहां नहीं आ सकते तो हमें ही किसी दिन बुला लीजिये । तिथि समय लिख भेजिये ।

(१२) "उलटा चोर कोतवाल को दण्डे" का उत्तर यह है कि सौ लानत उस कुतवाल की कुतवाली पर, जो कि कोतवाल होने का दम भरता हुआ चोरों से दण्डित हो जावे । मालूम होता है कि यह कोतवाल साहिब भी कोई कागजी जटायू होंगे जो कागजी घोड़ों पर चढ़ कर चोरों पर अपना रोब दिखाना चाहते होंगे । लेकिन माखनचोर के अनुयायी ऐसे कागजी कोतवालों की धज्जियें खूब उड़ाना जानते हैं ।

(१३) शास्त्रार्थ का दम हो तो मैदान में आजाइये । हमारी ओर से हर एक दिन निश्चित है । जिस दिन चाहो आजाओ ।

आने से एक दिन पूर्व सूचना दे दो। शास्त्रार्थ लिखित या मौखिक जैसा चाहो करलो लेकिन होगा पब्लिक के सामने। दूसरे दिन हम आपके यहाँ आएंगे। या चाहो तो पहिले हमें ही बुला लो। अपने उजड्ड रंगरूटों की जिम्मेवारी आप पर होगी अगर इस पत्र के उत्तर में भी आपने हमारे यहाँ आने से या हमें अपने यहाँ बुलाने से इन्कार किया तो हमें हक होगा कि जनता के सामने आपके पराजय की घोषणा करदें।

भवदीय प्रतिवादि भयंकर—
काहनचन्द कपूर
मन्त्री सनातन धर्म सभा नैरोबी

आर्यसमाज का चौथा पत्र

आर्य समाज नैरोबी
१-६-२७

सेवा में—

श्री मन्त्री सनातन धर्म सभा
नैरोबी।

नमस्ते! आपका ता० २८-५-२७ का पत्र मिला। आपने श्री स्वामी दयानन्द जी के ग्रन्थों पर शास्त्रार्थ करने में जो अपना स्वत्व लिखा है, वह इतने बड़े लम्बे चौड़े पत्र में भी आप सिद्ध

न कर सके । इसके पूर्व के पत्र में हमने जो न्यायदर्शनोक्त वाद विषयक सूत्र लिखा है इस सूत्र के अनुसार एकाधिकरण में ही परस्पर विरुद्ध पक्ष और प्रतिपक्ष खड़े करना इसी का नाम वाद है। वहाँ लिखा भी है "अस्त्यात्मा नास्त्यात्मेति" और वहां यह भी स्पष्ट कर दिया है कि नानाधिकरण में विरुद्ध पक्ष प्रतिपक्ष खड़ा करना उसका नाम वाद नहीं। वात्स्यायन जी इस विषय में स्वयं दृष्टान्त देते हैं कि "नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरिति" वे दोनों भिन्नाधिकरण होने से इन पर वाद नहीं हो सकता ! "पुराण वेदानुकूल हैं वा श्री स्वामी जी के सत्यार्थप्रकाशादि वेदानुकूल हैं" यह दो अधिकरण होने से इन पर न्यायानुकूल वाद नहीं चल सकता है" इस विषय में तो अपने पत्र में आप बिलकुल डुबकी ही मार गए हैं।

(२) आपने पहिले पैरेग्राफ के अन्त में लिखा है कि "इस प्रकार बुरका पहिन कर कटि नाक को कब जक छुपा सकोगे। अगर दम है तो मैदान में आइये" भारत वर्ष की साक्षर जनता इस बात को खूब जानती है कि ऋषि दयानन्द काशी, पूना, बम्बई, पंजाब, और कानपुर आदि स्थानों में किस प्रकार गर्जते हुए फिरा करते थे। किरानी कुरानी जैनी और पुरानी इन चारों के साथ शास्त्रार्थ के लिये किस प्रकार उद्यत थे। आर्यसमाज इन चारों के साथ किस प्रकार कटीबद्ध है, यह बात संसार में प्रसिद्ध है। इसलिए हमारा बुरका आदि लिखना यह आपकी बुद्धि का नमूना है। आपने यहां आते ही पुराणों का एक एक शब्द वेदानुकूल सिद्ध करने के लिये विराट पुत्र उत्तर के समान खूब गर्जना की है परन्तु जब शास्त्रार्थ का चैलेंज हमारे इधर से आप को पहुंचा तो मिर्जापुरी लौटे की तरह आप पुराणों से ढुलक कर सत्यार्थप्रकाश को भी बीच में डालने लगे हैं। अस्तु।

हमतो दोनों पर शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार हैं। जोकि हमने अपने पूर्व पत्र में लिख दिया है। परन्तु आप पुराणों पर शास्त्रार्थ करने के लिए भयभीत होकर किस प्रकार भाग रहे हैं यह आपका सब लेख पढ़ कर सिद्ध हो रहा है। जब यह लेख पुस्तक रूप से छपेंगे तब पठित जनता इस बात को अच्छे प्रकार जान लेगी कि शास्त्रार्थ से वास्तव में कौन भाग रहा है। हाँ! यह बात आपके कथनानुसार हम आपकी सभा में नहीं आते। परन्तु हम आवें ही क्यों? "यत्र पंडितोऽपि गर्दभायते" अर्थात् जिस सभा के पंडित भी[1] और प्रधान भी दूसरों की सभा में जाकर सबों को कुत्ते की उपमा देता है। भला, ऐसे सभ्यों की सभा में सभ्य आदमी यदि दूर रह कर ही शास्त्रार्थ करना चाहे तो इस में बुरी बात क्या है? बम्बई में यह बात नित्य प्रति देखने में आती है कि भंगी मैले का टोकरा शिर पर ले कर फूट पाथ (Foot Path) से चलने लगता है। उस समय प्रत्येक सभ्य मनुष्य उससे स्पर्श आदि के भय से दूर हट जाता है, इससे वह भंगी यूं समझ बैठे कि "मुझ से बड़े २ लखपति भी डरा करते हैं" ऐसा मान कर अपने जय का अभिमान करे तो उसकी मूर्खता ही समझनी चाहिये।

(३) आपने जो दूसरे पैरेग्राफ में पुराणों का सहकारित्व लिखा है उस से तो कुछ अंश में सहकारित्व के कारण कुरान

टिप्पणी—[1] समाजी की सभ्यता का नमूना दर्शनीय है। पत्र व्यवहार हम से हो रहा है परन्तु जब उचित उत्तर नहीं बना तो हमारे पं० जी को कोसने लग पड़ा। अजी गर्दभानन्द के चेले! गर्दभ भौंका नहीं करते। "भौंकता है" मुहावरे के अपने गर्दभपन पर कुछ उत्तर 'रेंकिये'—मंत्री

और बाईबिल भी मान लेने होंगे। आपने पुराणों की वेदानुकूलता में जो प्रमाण दिये हैं वह आपकी बुद्धि का नमूना है। "पुराण" और "इतिहास" ये दोनों शब्द पुरातन भूतकाल के साथ संबन्ध रखने वाले होने से मनुआदि के समय में जो 'पुराण' शब्द लिखा गया है वह उनसे लाखों वर्ष बाद भविष्यत् में बनने वाले अष्टादश-पुराणों का वाचक नहीं हो सकता। उनके समय में द्वापर के अन्त में व्यास निर्मित अष्टादश पुराण भविष्यत् काल से सम्बन्ध रखते हैं। यह एक मोटी बात आप के समझ में अभी तक नहीं आती इसका हमें आश्चर्य है। क्या मनुजी के वास्ते "ब्रह्मवैवर्त" आदि पुराण लिखना यह भविष्यत् की बात थी अथवा उनसे पुरातन समय की ? यह आप सोच लें।

(४) **आपने** अपने दूसरे पैरेग्राफ में हमने "वेद" शब्दार्थ विषय में जो लिखा है उसको न समझ कर हठात् वेदानुकूलता ही पुराणों की **कूटते चले जाना** यह आपकी बुद्धि का दूसरा नमूना है।

(५) हमने अपने पूर्व पत्र में स्पष्ट लिख दिया है कि "अष्टादश पुराणों की सामान्य शिक्षा वेदों के प्रतिकूल हैं" इससे सिद्ध होता है कि श्री स्वामी जी ने और हमने "पुराणों का प्रत्येक शब्द वेद प्रतिकूल है" ऐसा कहीं नहीं कहा। इससे मालूम होता है कि आपको सामान्य विशेष का भी ज्ञान नहीं है। जब कि स्वामीजी ने "विष-संपृक्तमन्नमिव त्याज्यम्" यह लिखकर स्पष्ट कर दिया है कि इन अष्टादश पुराणों में अन्न है परन्तु विष से मिला हुआ होने के कारण वह अभक्ष्य है। जब हमने और श्री० स्वामीजी ने पुराणों के प्रत्येक शब्द को वेद प्रतिकूल नहीं लिखा

तब आपको यह स्वप्न कहां से आया ? मालूम होता है कि भाषा का अभिप्राय समझना भी आपकी बुद्धि के बाहिर है।

मनुस्मृति के "अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्" इस श्लोक के अर्थ में मूल वेदों के **शिबाय** शाखाओं का भी ग्रहण करने वाला आप से बढ़ कर बुद्धिमान् कौन हो सकता है ? इसी प्रकार "शास्त्रयोनित्वात्" (अ० १ पा० सू० ३) इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य में स्वामी शङ्कराचार्य जी ने स्पष्ट लिखा है कि "सर्व विद्या संयुक्त ऋग्वेदादिकों को ईश्वर से दूसरा कोई प्रकट नहीं कर सकता" यहां ऋग्वेदादिकों से ऋषिकृत शाखादि ग्रन्थों को ईश्वरीय वेद मानने वाला आप से दूसरा देवानां प्रिय कौन हो सकता है ? वेद शाखा सहित कहाँ ग्रहण करना चाहिए और कहाँ नहीं ? यह समझने की आप में अल्प मति भी होती तो हमें इतना लिखना न पड़ता। देखो मनुस्मृति अ० ३ श्लो० १ "षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्" इसमें ठीक ध्यान देकर पढ़ो। उक्त श्लोक के अर्थ में "वेद" शब्द शाखा सहित लिखा गया है।

(१) आपने जो "मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" लिखा है वह उपर्युक्त मनूक्त श्लोक के अभिप्रायानुसार यज्ञादि क्रिया करने में मंत्र और ब्राह्मण दोनों अपेक्षित हैं—इस अभिप्राय से कहा गया है। उपर्युक्त सूत्र में ब्राह्मण ग्रन्थों को 'वेद' कहना यह प्रशंसा परक है न कि वस्तुतः। भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में "भगवद्गीतासूपनिषत्सु" ऐसा लिखा गया है। इतने से ही भगवद्गीता को "उपनिषद्" कह देने वाला आप जैसा कुशाग्र-बुद्धि मनुष्य ही हो सकता है।

(८) टी० बो० साहब का फैसला आपके ही सन्दूक में बना रहे। हम तो श्री० स्वामी जी कृत सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों के अनुसार आपको उत्तर दे रहे हैं।

(९) **आपने** चौथे पैरेग्राफ में "अनार्यता निष्ठुरता" इस मनुस्मृति के श्लोकार्थ में जो 'कलुषयोनिजत्व' के लक्षण लिखे हैं वे आपके साथ अच्छे प्रकार सम्बन्ध रखते हैं उसमें सन्देह नहीं। उक्त पैराग्राफ में जो लिखा है उसका उत्तर हमने ऊपर सप्रमाण दे दिया है। उसको जरा आप अपने बुद्धि रूप चक्षु को खोलकर देख लीजिए कि 'वेद' शब्द केवल संहिता का वाचक कहाँ आता है। और शाखादि सहित ग्रन्थों का वाचक कहां आता है, यह आपको समझ में आ जाएगा।

आगे आपने नियोग के कारण आर्यसमाज पर व्यभिचार दोष लगाया है। इस विषय में आप निपट ही मूढ़ बन गये जब कि आपके परदादा गुरु महर्षि व्यास ने नियोग से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये तीन पुत्र उत्पन्न किये हैं। जिस बात को * १ महाभारत डंके की चोट से कह रहा है, तब आप ऊंची नाक करके हमारे सामने कैसे बोल सकते हैं ? और आर्यसमाज

टि० * १—नियोगमय मस्तिष्क समाजी को चारों ओर नियोग ही नियोग दीखता है। सच है ! "सावन के अन्धे को चारों ओर हरा ही हरा जान पड़ा करता है" । यदि नियोग की ऐनक उतार कर एक बार भी महाभारत देखा होता तो यह 'प्रलाप' कदापि नहीं करता। महाभारत में स्पष्ट शब्दों में धृतराष्ट्रादि का बिना मैथुन वरदान द्वारा उत्पन्न होना लिखा है यथा—

कृष्णाद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा ।
धृतराष्ट्रस्य पांडोश्च पांडवानांच संभवः ।

[आदिपर्व २।१००।]

पर तो नहीं परन्तु पौराणिकों की कीर्ति पर धब्बा लगाने वाला निम्नलिखित श्लोक संसार के सामने प्रसिद्ध है।

पौराणिकानां व्यभिचार दोषो नाशंकनीयः कृतिभिः कदाचित्।
पुराणकर्ता व्यभिचारजातस्तस्यापि पुत्रो व्यभिचारजातः।

(सुभाषितरत्न भाँडागारम्)

कहिये अब भी कुछ सुनना शेष है ? हमारे दादा गुरु श्री० स्वामी दयानन्द जी ने तो नियोग के विषय में शास्त्रानुकूल विधान लिखा है। परन्तु आपके परदादा गुरु व्यास ने तो प्रत्यक्ष नियोग करके पुत्र उत्पन्न कर दिये हैं। अब यहां नियोग का विधान लिखने वाले पर व्यभिचार दोष लगाना यह आप की कितनी निर्लज्जता है ? जब परशुराम ने इक्कीस बार भूमि पर फिर कर क्षत्रिय नष्ट कर दिये मब मृत क्षत्रियों की विधवाओं ने ब्राह्मणों से सन्तान उत्पन्न की है। इस पुराण महाभारत का लेख आपको न **दिखता** हो तो आर्यसमाज आपको दिखा सकता है। आगे के लिये आप अपने ग्रन्थों को देख कर दूसरों पर आक्षेप किया करें कि जिससे निर्लज्जता का आक्षेप आप पर न आवे। और आपकी विद्वत्ता का भांडा भी न फूटे।

अर्थात्—कृष्णद्वैपायन [वेदव्यास] जी के वरदान द्वारा धृतराष्ट्र और पांडु की उत्पत्ति तथा उनसे पाँडवादिका होना [वर्णित है]।

इसी प्रकार जब कृष्ण भगवान् सन्धि कराने के अर्थ हस्तिनापुर गये थे तब दुर्योधन ने पांडवों को पापी कहा था जिसके उत्तर में भगवान् ने कहा था कि—

न मैथुनेन संभूता निष्पापाः पांडवा भवन् ॥

अर्थात—पांडव मैथुन से उत्पन्न नहीं हुवे अतएव वे निष्पाप हैं। (उद्योग सन्धि पर्व)

(१०) आपने पांचवे पैरेग्राफ में जो कुछ लिखा है उससे "अनार्यता निष्ठुरता" इन लक्षणों को सत्य करके दिखलाय। है। आप निराकार और साकार के तत्त्व को अब समझने लगे हैं यह सौभाग्य की बात है। **जो** एक समय रुमाल में रहे हुए पानी को साकार कह कर रुमाल के सूख जाने पर पानी को निराकार **कहने वाले** "पंडितंमन्य" संसार में आप जैसे विद्यमान हैं। हमारे दृष्टान्त में ब्रह्मा के पाँचशिरों में से एक शिर का काटा जाना इस विषय में भरी सभा में किसी महाशय के शङ्का करने पर उसको शरीर रहित कह देना इस बात को आप स्वाहा कर गये। ठीक ही है उसका उत्तर आपके पास क्या हो सकता है ? आपका सायन्स का ज्ञान उस दिन सिद्ध हो गया कि जिस दिन साकार पानी को निराकार कर दिया। "प्रजापति दुहिता" के विषय में जैसा हमने सुना था उसी के अनुसार लिखा था। अब आप साकार और निराकार के तत्त्व को समझने योग्य होते जाते हैं यह आनन्द की बात है। आशा है कि आप भविष्यत् में पानी को उसकी स्थूलता के रूप में साकार कह कर सूख जाने पर उसको निराकार कहने का साहस नहीं करेंगे।

(११) आपने अपने छठे पैरेग्राफ में जो "विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्" इस सूत्र पर अपने सनातनी सिद्धान्त के अनुसार जो पांडित्य दिखाया है वह तो इन पत्रों के छपने पर विद्वानों को विदित हो ही जायगा। आपने उक्त सूत्र के अर्थ में आपके शबर स्वामी को भी **महात** कर दिया है। जहां आपके अष्टादश पुराण का गन्ध भी न हो वहाँ आपको "पुराण" शब्द भी दीख पड़ता है। इस आपके असाध्य रोग की दवा हमारे पास नहीं है। जब हमने तुम्हारे शबर स्वामी के भाष्यानुसार "श्रुतिविरुद्धास्मृतिरप्रमाणम्" अर्थात् श्रुति विरुद्ध स्मृति अप्रमाण

है ऐसा लिख दिया है तब भी "चारोंखाने चित्त गिरने पर गिरने वाला कहे कि नाक तो हमारी ही ऊपर है' यह कहावत आपने अपने में अच्छे प्रकार चरितार्थ कर ली है। मीमांसा के सूत्र का अर्थ समझने की बुद्धि आप में नहीं है यह मालूम हो गया। भला ऐसे आदमी शास्त्रार्थ कैसे कर सकते हैं ?" *उच्चैर्घुष्ट्वा वक्तव्यं न श्रोतव्यं वादिनो वचः" यही आपके लिये आपके पाँडित्य को ढांकने का एक ही उपाय है।

(१२) सातवें पैराग्राफ में आपने लिखा है कि "आप वेदानुकूल पर निबट लीजिये फिर हम प्रक्षिप्त चर्चा करेंगे" यही तो आपका शास्त्रार्थ से भागना है। हमने वेदार्थ के विषय में पूर्व पत्र में इस पत्र में भी इतना स्पष्ट कर दिया है कि इस विषय में फिर शंका उठाना यह आपका हठ ही होगा।

(१३) आपने अपने ८वें पैराग्राफ में लिखा है कि "हमने आपका (ख, ग) पैरेग्राफ का उत्तर कुछ भी नहीं दिया" यह आपका लिखना सर्वथैव मिथ्या है। जब हमने आपके उस पत्र के उत्तर में पत्र लिखा था उसमें स्पष्ट कर दिया था कि इन आपके (ख, ग) पैरेग्राफ का उत्तर हमारे ऊपर के लेख से आ जाता है। इसलिये इस पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् "वेद" शब्द संहिता का वाचक और शाखा सहित ग्रन्थों का वाचक किस प्रकार आता है यह मनुस्मृति के प्रमाणों से

टिप्पणी—*पाठक जन पिंगलोक्त "पंचमं लघु सर्वत्र" पद्यलक्षण पर पर हरताल पोतकर उसके स्थान में इस प्रकार लिख लें—

अनमिल अक्षर गडबड झाला।
"रबड" छन्द सब भांति सुखाला ॥

लिखा था, फिर भला इन [1]निकम्मे (ख, ग) पैरेग्राफों का जवाब लिख कर व्यर्थ कागज हम क्यों बिगाड़ें ?

(१४) आपने अपने नववें पैरेग्राफ में अपने प्रतिज्ञाहानि के दोष को निवारण करते हुए जो लिखा है वह दोष दूर न हो कर आपके शिर पर ज्यों का त्यों नाच रहा है। हमने पूर्व पत्रों में स्पष्ट कर दिया है कि जो कुछ शास्त्रार्थ के नियमों के विषय में निश्चित करना हो वह आप लेख से ही कर लें। प्रत्यक्ष आमने सामने मिलने पर पूर्व में परिणाम कुछ भी नहीं निकला। यह हमारे अधिकारियों का अनुभव है। इसीलिये हम चाहते हैं कि कुछ बातचीत हो वह लेखबद्ध ही हो। भला इसमें हमारा भय-भीत होना कैसे सिद्ध हो सकता है ?

(१५) आपने अपने दसवें पैरेग्राफ में लिखते हैं कि "श्री स्वामी जी ने घोड़े की लीद से मनुष्यों को पक्का करना लिखा है" इससे मालूम हो गया कि स्वामी जी के भाष्य को समझने की भी बुद्धि आप में नहीं है यह हमको मालूम हो गया कि "[2]वदामि बहुधा न लिखामि किंचित्" यही आपका सिद्धान्त है। इस अवस्था में आप हमसे लेखवद्ध शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हैं, लिखित शास्त्रार्थ में प्रकरण के विरुद्ध बोलने वाला या लिखने वाला मनुष्य शास्त्रानभिज्ञ और मूर्ख कहाता है। इससे अपने गुह्य को ढांकने के लिये आपने यह प्रामाण्याप्रामाण्य की अच्छी युक्ति लगाई है। आप हमें मूल संहिता को छोड़ कर अन्य वेदा-

---

टिप्पणी—१ पाठक हमारे २५-५-२७ के पत्र में दूसरे पैरेग्राफ के (ख-ग) विभाग को अवश्य पढ़ें, फिर महाशय जी के "निकम्मे" शब्द पर विचार करें।

२—यहां भी पूर्वोक्त "रबड़" छन्द है।

नुकूल ग्रन्थों के प्रमाण देने से रोकते हैं, इस से तो यह सिद्ध होता है कि आप के पौराणिक सिद्धान्तों को चकनाचूर करनेवाले प्रमाण इन्हीं ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। इसी लिये इन वेदानुकूल ग्रन्थों के प्रमाणों से और अपने अष्टादश पुराणों के प्रमाणों से आप भयभीत हो रहे हैं। जब आपको अपने आत्मा में यह निश्चय है कि "आपके माननीय ग्रन्थों में आर्यसमाज के अनुकूल कुछ भी मसाला नहीं मिल सकता तब आप हमें इन ग्रन्थों के प्रमाण देने से क्यों रोकते हैं? बस आपके लेख से ही सिद्ध होता है कि [1]आपके गुह्यों का उद्घाटन मूल संहिताओं से इतना नहीं होगा जितना की आपके माननीय पुराण ग्रन्थों से हो सकता है, यह आपको महद् भय है, यह हम खूब समझ गये। आप लिखते हैं कि "स्वामी जी के गुह्यों को जनता के सामने हम प्रकट नहीं करेंगे" परन्तु यह आपको याद रहे कि इसका उत्तर हम आपको ऐसा देंगे कि जिससे आपको दुःख उठाना पड़े। आप स्वामी जी के और हमारे गुह्यों को क्या खोल सकते हैं, जब आपके माननीय[2], ग्रन्थों में, ब्रह्मा बिष्णु महेश इन तीनों का

---

१ टिप्पणी—जी हां! जब कि मूल संहिताएं सनातनधर्म के सिद्धान्तों का अक्षरस: समर्थन करती हों, फिर उनसे हमारे किसी सिद्धान्त को हानि पहुंचाना वास्तव में असम्भव है, यह सत्य बात आप के मुख से निकल ही गई, क्या अब भी हमारे किसी सिद्धान्त को 'वेद प्रतिकूल' कहने का साहस कीजियेगा।

२ टिप्पणी—किस ग्रंथ में? किस अध्याय में? कुछ तो पता दिया होता! या यूं ही जबानी बकवास करनी आती है!! विदित होता है कि समाजी ने यह सब दयानन्दो ग्रंथों की गन्दी शिक्षा का परिचय दिया है, क्योंकि दयानन्द चरित्र दर्पण आदि में इन बातों का काफी प्रमाण मिलता है, यदि कुछ विवेक से काम लिया जाता तो वह मान्य

स्थिति में आना, और ऋषियों के शाप से शङ्कर के लिङ्ग का पतन होना, वेश्या के घर पर शङ्कर का जाना और फीस में कङ्कण का देना, ब्रह्मा जी का अपनी पुत्री पर कामातुर होना, कामातुर होकर अत्रि ऋषि की पत्नी अनसूया पर बलात्कार करना, और उसके शाप से तीनों का भी पीड़ित होना, गोलोक में विरजागोपी में फंस कर और लम्पट बन कर राधा के शाप से गोलोक से भ्रष्ट होकर श्रीकृष्ण का भरत खण्ड में गिरना, शंकर का ऋषिपत्नियों के पास हाथ में लिङ्ग पकड़ कर नग्न

पुराणों ग्रन्थों को लांछित न करके इस इबारत को निम्नलिखित रीति से बदल कर लिखता । यथा—

"जिस समाज के प्रवर्तक ने विधवा रमाबाई पर लट्टू होकर मेरठ में प्यार किया हो और उसके शाप से रोम २ फूट कर जान दी हो । और गुजरात में बांकीनीर के जवान पटेल के प्रेम में फंस कर लंपट बन कर उसी के साथ गुजरात प्रांत से भ्रष्ट होकर पंजाब आदि में भ्रमण कर जान बचाई हो, तथा जिसका नन्हींजान के विष रूप शाप से न केवल लिंग अपितु समस्त शरीर पतित हुआ हो ! और जो मथुरा में वेश्या द्वारा प्रलोभित किया गया हो । जिसने रमा को फीस में एक दुशाला और कलकत्ता से मेरठ तक का आने जाने का सैकेंडक्लास का किराया तथा मार्ग व्यय दिया हो ! तथा अपनी पुत्री समान शिष्या पर अनुरक्त हुआ हो ! फिर इसी धर्मपुत्री के शाप से जिसका न केवल शिरः पात अपितु शरीर पात हुआ हो । जो चांडालगढ़ के शिवालय में सोता हुआ जागरण काल की दृढ़ भावना के अनुसार महादेव पार्वती द्वारा अपनी विवाह चर्चा सुनकर मोहित हो गया हो । जो स्वयं स्त्री बनकर नाचता हुआ सोलह साल तक हजारों पुरुषों को मुग्ध करता रहा हो । इत्यादि 'त्वदीयं वस्तु मूर्खेश । तुभ्यमेव समर्पये" ।

(दयानन्द छलकपट-दर्पणादि के आधार पर)

और इस पुत्री के शाप से ब्रह्मा का पांचवा शिर गिरना, ब्रह्मा जी का अपनी मातृसदृश पार्वती पर मोहित होना और उसी समय शंकर के समक्ष यज्ञशाला में ब्रह्मा का वीर्य पात होना, और उस वीर्य से ८८१२८ ऋषियों का उसी समय उत्पन्न होना, नारद ऋषि का स्त्री बन कर तालध्वज राजा से बड़ा भारी गर्भ धारण करके पचास युवापुत्रों का उत्पन्न होना, जालन्धर की स्त्री वृन्दा और शंखासुर की पुत्री तुलसी के साथ विष्णु का कपट से व्यभिचार करना और तुलसी के शाप से शालिग्राम रूप काला पत्थर होकर भूमि पर गिरना, पराशर का मत्स्यगंधा के साथ नौका में भी व्यभिचार करना, और गुरु की पत्नी के साथ चन्द्रमा का व्यभिचार करना, और उसी व्यभिचार से बुध नामक पुत्र उत्पन्न होना" इत्यादि अपने गुह्यों का उद्घाटन करने वाले प्रमाण जिनके ग्रन्थों में होवें भला आर्यसमाज के साथ लिखित शात्रार्थ करने का साहस कैसे कर सकते हैं ? यदि उन बातों का लिखित उत्तर देने का आप में दम न हो तो स्पष्ट ना कह दीजिये ! उसमें लज्जा की कौन सी बात है ? सृष्टि की उत्पत्ति करने वाले अपने उपास्य परमात्मा को कलंकित करने की जिन पुराणकर्ताओं को जरा भी लज्जा न आई वे पुराण और उनके अनुयायी "पण्डितम्मन्य" दूसरों के लिये जो कुछ लिखें बोले वह सब थोड़ा ही है ।

(१६) आपके ग्यारहवें पैरेग्राफ में जो कुछ आपने लिखा है उसका उत्तर ऊपर हमने दे दिया है, परन्तु सम्भव है कि वह आपकी समझ में न आवे क्योंकि पुराणों की शिक्षा ने और पाषाणमय मूर्ति की पूजा ने आपकी बुद्धि पर ऐसा पाषाण रख दिया है कि जिससे आपको स्थूल बात भी ज्ञात नहीं होती । जब हम ऊपर आपकी सभा की सभ्यता का नमूना दिखा चुके हैं तब

ऐसी दशा में लेखबद्ध काम करना अच्छा है। अतः आपको हमारे यहां और हमारी आपके यहां आने जाने की आवश्यकता ही क्या है ?

(१७) आपने बारहवें पैरेग्राफ में "उल्टा चोर कोतवाल को दण्डे" इस कहावत से पश्चाताप न करके जो नग्न होकर नृत्य किया है वह हास्यास्पद है। वास्तव में इस कहावत के अनुसार आपने चौरवत् होना स्वीकार किया है, इतना ही नहीं परन्तु उपास्य देव कृष्ण को भी माखन चोर कह कर उसका अनुयायी होना बड़े ही भूषण से स्वीकार कर लिया है, क्या ही अच्छा होता कि आप अपने उपास्य देव को भूषित करने के लिए "चोर. जारशिखामणिः" लिख देते तो आपके उपास्य देव की शोभा अधिक बढ़ जाती !

भवदीय उत्तराभिलाषी
बाबूराम भल्ला
मन्त्री आर्यसमाज
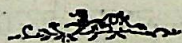
हमारा उत्तर

श्रीसनातन धर्म सभा
नैरोबी ८-६-२७

मन्त्री महाशय !

आर्यसमाज नैरोबी

जय श्रीकृष्ण। आपके १—६—२७ के पत्र का उत्तर इस प्रकार है—

(१) आपकी तंग खोपड़ी में "दयानन्दी ग्रन्थों की वैदिकता पूछना हमारा स्वत्व है या आग्रह" यह अभी तक नहीं समाया, और नाही समा सकेगा, आप लेखबद्ध पब्लिक शास्त्रार्थ से इसीलिये भागते हैं कि अगर यह मामला जनता के सामने आता तो जनता आपके इस दुराग्रह को देखकर फौरन तुम्हारे मुखमें "नरवर" ठूँसती, अब तो "मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी" के अनुसार बुरका पहिने जो चाहो सो लिख सकते हो।

(२) आप एकाधिकरण और भिन्नाधिकरण पर बहुत बल दे रहे हैं परन्तु इस मूर्खता का भी कहीं ठिकाना? क्योंकि सर्वत्र एककालावच्छेद में ही भिन्नाधिकरण पर वाद का निषेध है समयान्तर में नहीं। सो हम तो आरम्भ से ही यही लिख रहे हैं कि एक दिन आप हमारे यहाँ आवें और पुराण विषयक प्रश्न उपस्थित करके उत्तर लें। दूसरे दिन हम आपके यहाँ आकर दयानन्द ग्रन्थ विषयक प्रश्न उपस्थित करेंगे आप उत्तर देना। इतनी स्पष्ट नीति में "भिन्नाधिकरण २" चिल्लाना आर्यसमाज के लाल बुझक्कड़ों का ही काम हो सकता है। हमने अपने पूर्व पत्र में आपकी इस मूर्खता की इसलिए उपेक्षा की थी कि "दयानन्द शताब्दी पर आर्यों की विद्वत्परिषद् का सभापति होने वाले पुरुषपुँगव की विद्वत्ता का भांडा न फूट पाए"।

(३) आपने हमारी मैदान में आने की ललकार का उत्तर दयानन्द की गर्जना के गीत गाकर देने की चेष्टा की है प्रथम तो दयानन्द ने किस प्रकार सर्वत्र मुंह की खाई थी यह संसार जानता है, विश्वास नहीं हो तो "यमालय" से दयानन्द को बुला कर पूछवा सकते हैं। काशी के एक साधारण पठित रईस ने

उन्हें किस प्रकार पछाड़ा था, यह मध्यस्थ टी० बो० सहिब के इन शब्दों से पता लग सकता है कि "[1]हम तो स्वामी जी महाराज को बड़ा पंडित जानते थे अब तो उनके मनुष्य होने में भी सन्देह होता है"। यही हाल अमृतसर आदि में हुआ था, पं० रामलाल शास्त्री से पराजित होकर तो दयानन्द को आर्यसमाज के नियम बदलने के लिए विवश होना पड़ा था। बम्बइ आर्य समाज का पुराना रिकार्ड पढ़ें। और यदि "दुर्जन-तोष" न्याय से मान भी लिया जावे कि दयानन्द ने गर्जना की थी तो भी वह गर्जना आज दुम दबाकर दौड़ते हुए तुम्हें क्या सहारा दे सकती है, अगर तुम में सामर्थ्य है तो मैदान में आ जाइये।

(४) आगे चलकर आपने हमारे लेखों को पुस्तकाकार छपाने की चर्चा की है सों यह तो बहुत उत्तम बात है, आप अवश्य छपाएं हम आधा खरच आपको देंगे, पत्रों के अतिरिक्त हमारा या आपका निजी एक भी शब्द नहीं होना चाहिये। केवल पत्र ज्यों के त्यों अवश्य छपने चाहिए। परन्तु आप ऐसा नहीं कर सकेंगे क्योंकि पठित जनता के हाथ में यह पत्र व्यवहार जाने से आर्यसमाज की रही सही पोल खुल जावेगी।

(५) दूसरे पृष्ठ के अन्त में आपने सत्यार्थप्रकाश की गन्दी तालीम का परिचय देते हुवे गालियों से काम लिया है जिसके उत्तर में हम यही कहना चाहते हैं कि "ददतु-ददतु गालीं गालिवन्तो भवन्तो, वयमिह तद्भावे गालिदानेऽसमर्थाः"

(६) रही आपको कुत्ते की उपमा देने की शिकायत, सो तो

टिप्पणी—(१) पढ़ो राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द का "नम्र निवेदन" और टी० बो० साहिब का निर्णय।

आप दयानन्द पर दावा करें क्योंकि उसने यजुर्वेद भाष्य (१६ । १२) में समाजी सभापतियों और राजाओं को सूवर की उपमा दी है, तथा (१४ । ९) में वैश्यों को ऊंट, शूद्र को बैल नौकरों को घोड़े खच्चर बताया है, सो अगर दयानन्दी लोग सूवर बैल ऊंट खचरे हो सकते हैं, तो उन्हें कुत्ते होने में कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए ।

(७) हमारे सप्रमाण पुराणों के सहकारित्व का उत्तर आपसे कुछ भी नहीं बन पड़ा, जबकि सायणादि ने स्पष्ट "ब्रह्म पुराण" आदि नाम देकर उनका सहकारित्व माना हो और अन्यान्य आचार्यों ने तथा स्वयं वेद ने इसका अनुमोदन किया हो- फिर इस पर आप और कहते भी क्या ?

कुरान बाईबल के सहकारित्व का आक्षेप वही "पुण्यजन" कर सकता है जिसे कि उक्त पुस्तकों की भिन्न भाषा भिन्न लिपि का भी ज्ञान न हो ।

आप बतायें कि वेदादि शास्त्रों में जो धड़ा-धड़ ग्रन्थ वाचक पुराण शब्द आता है वह किन ग्रन्थों का वाचक है ? आर्ष ग्रन्थ तो यह बताते हैं कि मंत्रोपदेश से पूर्व विनियोग का उपदेश आवश्यक है, और विनियोग वर्णित ऋषि देवताओं के चरित्र पुराण ग्रन्थों में आते हैं अतः अनादि काल से जिस प्रकार गुरु-परम्परा द्वारा वेदोपदेश हुवा उसी प्रकार पुराणोपदेश । द्वापर के अन्त में श्री वेदव्यास जी ने वेद और पुराण दोनों का ग्रन्थाकार विस्तार करके शिष्यों में बांटा[1] इस प्रकार भूत काल और भविष्यत् काल का आक्षेप केवल शास्त्रानभिज्ञता का परिचय

---

[1]टि० देखो हमारे "पुराण दिग्दर्शन" ग्रंथ का स्वरूप—स्थापनाध्याय ।

मात्र है। वेदों में न केवल "पुराण" शब्द बल्कि वर्तमान पुराणों के नाम भी आते हैं। जरा मैदान में आयें हम बतायेंगे।

(८) आप पुराणों की केवल "सामान्य शिक्षा" को ही वेद प्रतिकूल मानते हैं "विशेष शिक्षा" को नहीं। चलो! विना ही शास्त्रार्थ किये आधा निबटारा तो हो गया। कृपा करके पुराणों की विशेष शिक्षा की एकतालिका लिख भेजें जिसमें विशेष २ स्थलों के अध्याय श्लोकादिका पूरा पता साथ हो, जिससे आधा झगड़ा तो सदा के लिये मिट जावे। जब "विशेष शिक्षा" की वैदिकता आपने स्वयं समझ ली तो "सामान्य शिक्षा" की हम समझा देंगे। आप जरा अपनी तंग और खुश्क खोपड़ी को चौड़ी और चिकनी बनाने का प्रयत्न किया करें। फिर हमारा उपस्थित विषय बिना परिश्रम अन्दर घुस जाया करेगा।

(९) वेद शब्द कहां "साङ्गोपाङ्ग" वाचक है और कहां "मंत्रब्राह्मणात्मक शब्दराशि" वाचक,हमने यह खूब समझ रक्खा है। परन्तु स्मरण रहे जिसके मत में जितने भाग का नाम वेद है वह अपने उतने भाग द्वारा ही अपनी "वैदिकता" सिद्ध कर सकता है। यदि नहीं तो वह "अवैदिक" है यह साफ बात है। हम अपने मान्य वेदों द्वारा पुराणों की "वैदिकता" सिद्ध करने को तैयार हैं, परन्तु आप अपने मान्य वेदों द्वारा दयानन्दी ग्रन्थों की "वैदिकता" सिद्ध करने से भागते हैं। क्योंकि आपको पता है कि वेदों में योनि-संकोचन" और "वीर्याकर्षण" जैसी कोक-शास्त्रीय विधियों का पता नहीं मिलेगा, इसलिए आप घबड़ाते हैं। वाह रे वैदिकधर्मियों ?

(१०) टी० बो० साहिब के फैसले से आप बहुत घबड़ाए वह तो गैर सनातनधर्मी की कलम का लिखा हुआ है, अतः आपको

मान्य होना चाहिए। जरा पढ़ कर तो देखिये कि दयानन्द कितने पानी में था !

(११) महाभारतादि ग्रन्थों में आर्यसमाज के पशु-धर्म नियोग की चर्चा है या नहीं–जनता के सामने इसी विषय पर ही दो बातें कर लीजिये। फिर हम आपको बतायेंगे कि आपकी अक्ल कहां तक पहुंचती है।

(१२) सुभाषितरत्नभांडागार के श्लोक द्वारा वही मूर्ख आक्षेप करने का साहस कर सकता है जिसने कि मूल ग्रन्थ के दर्शन न किये हों। वहां कौन ऐसा विषय है कि जिसकी निन्दा और स्तुति दोनों न की हों यथा—

(क) वैद्यराज ! नमस्तुभ्यं यमराजसहोदरः।
(ख) गणिकागणकौ समानधर्मौ।
(ग) मूर्खत्वं सुलभं भजस्व कुमते !
(घ) कृपणेन समो दाता न भूतो न भविष्यति। इत्यादि।

उपर्युक्त श्लोकों में वैद्य और ज्योतिषियों की निन्दा तथा मूर्खता और कृपणता की प्रशंसा की है क्या ?, कवित्व प्रधान ग्रन्थ के इस प्रतिभा चमत्कार को वस्तुतः निन्दा स्तुति परक माना जा सकता है। वाह रे "साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः" पद्य के लक्ष्य ! भविष्य में उक्त श्लोक का पाठ इस प्रकार पढ़ा करें।
सामाजिकानां व्यभिचारदोषो नाशंकनीयः कृतिभिः कदाचित्।
दयानन्दो व्यभिचारजातो ह्यन्येऽपि सर्वे व्यभिचारजाताः॥

(१३) साकारता निराकारता के सम्बन्ध में हमारा जो सदातन सिद्धान्त है वह आपने आज समझा ! चलो फिर तो

कभी प्रजापति रूप नौ लाख मील व्यास वाले सूर्य पर निराकार होने का आक्षेप नहीं कर सकोगे। "सुबह का भूला शाम को घर आ जावे" तो भी गनीमत।

(१४) "विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्" के हमारे पांडित्य पर आप चकित रह गए! रहें भी क्यों नहीं! जबकि आपके पेश किये प्रमाण ही पुराणों की वैदिकता की उच्चैर्घोषणा कर दें और आप "किं कर्तव्य विमूढ़" हो कर "अप्रतिभा" निग्रहस्थान में पराजित होते हों! रहा शवर स्वामी के भाष्य में "पुराण" शब्द का पाठ सो तो—

[1]श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यदि जायते।
श्रौतं तत्र प्रमाणं स्याद् द्वयोर्द्वैधेश्रुतिर्वरा॥

इत्यादि स्थानों में प्रायः समस्त ग्रन्थों के प्रामाण्य निर्णय प्रघट्ट में खूब आता है। देखना हो तो मथुरा के किसी फक्कड़ फकीर से आंखें उधार ले देख लो।

(१५) हमारे २५-५-२७—पत्र के [ख] और [ग] का उत्तर आपने अभी तक नहीं दिया। बिना सोचे समझे उक्त विभागों को "निकम्मे" लिखकर पिण्ड छुड़ाने का प्रयत्न किया है, हम फिर सचेत करते हैं कि हमारे उक्त विभागों का उचित उत्तर न देने की दशा में आप पराजित हो रहे हैं।

(१६) हमने पहिले आपके तीन प्रतिनिधि बुलाए परन्तु आपके इन्कार करने पर आपको जनता के सामने आने को तिथि समयादिक दिये। हमारी इस उदारता को आप "प्रतिज्ञा हानि" कहकर अपना मन सरसरा कर रहे हैं। आपको वह दोष अभी तक नाचता हुआ नजर आ रहा है, क्यों न आवे! आखीर हो

टि॰ [1]व्यास स्मृतिः १।४।

भी तो, सोलह साल तक घघरी पहिन के नाचने वाले कापड़ी कुल कलंक कुंजर दयानन्द के चेले !! जिसने अपने[1] यजुर्वेद भाष्य में भी समाजियों को नाचने की शिक्षा दी है !!!

(१७) घोड़े की लीद से पक्का होने की फिलासफी हम तो खैर नहीं समझते ! परन्तु आर्यसमाज तो इसे अमल में लाता होगा, इस लिए आप ही अपना अनुभव बता देते।

(१८) आप लिखते हैं कि "आप स्वामी जी के और हमारे गुह्यों को क्या खोल सकते हैं" जी ! हरगिज नहीं ! स्वामी जी के गुह्य को तो बांकानीर गांवका युवा जमीदार ही खोल सकता था ! आपने स्वामी जी के गुह्योद्धद्घाटन का ठेका उसे ही दे रक्खा था[2] !! हम ऐसा घृणित काम कब कर सकते हैं ! अगर आप से गुह्योद्घाटन करवाये बिना नहीं रहा जाता तो गुरुकुल कांगड़ी चले चाइये। वहां गुह्योद्घाटन काँड नित्य होते हैं ! विश्वास नहीं तो नरदेव शास्त्री कृत "आर्यसमाज का इतिहास का पृष्ट ३० पढ़ लीजिये।

(१९) पुराणों के विषय में आपने जो प्रमाण शून्य बकवास की है, अगर वह ठीक है और आप को इस पर भरोसा है तो जनता के सामने आकर प्रश्न कीजिये। आप जो २ पुराणों में दिखाएंगे हम वही २ वेदों में दिखाएंगे। अन्यथा बिना पते की बकवास करने वाले का उपाय "मोची पत्रं" के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। इस प्रकार की कथाओं का वैदिक नमूना हम परिमित शब्दों में सप्रमाण लिखते हैं मिलान करें: –

टि० [1]दयानन्द छल कपट दर्पण पृष्ट ८।
[2]यजुर्वेदीय दयानन्द भाष्य ३०।२०॥

[1](क) प्रजापतिः स्वां दुहितरमधिष्कन् । (ऋ० ८ । १ २७)

(ख) पिता दुहितुर्गर्भमाधात् । (अथर्व ६ । १० १२)

(ग) तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीताम् ।
(अथर्व ५ । २७ । ५)

(घ) दीर्घतमा मामतेयो जजुर्वान्दशमे युगे ।
(ऋ. मं. १ । २ अ. ३ व. १)

(ङ) तस्य रेतः परापतत् तद् हिरण्यमभवत् ।

(च) तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीराः । (यजु ३१ । १९)

(छ) इमं ते उपस्थं मधुना संसृजामि । (मं० ब्रा० १ । १ । १)

(ज) वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि । (यजुः १९ । ९)

(झ) योनिरुलूखलं शिश्नं मुसलम् (शतपथ ७ । ४ । १ । ३८)

(ञ) यथागङं वर्द्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि ।
(अथर्व ६ । १० । ११)

(ट) मातुर्दिधिषुमब्रुवंस्वसुर्जारः श्रृणोतु नः ।
(ऋ. ४ । ८ । २१ । ५)

(ठ) उपोपमे परामृश मामेदभ्राणि मन्मथा ।
(ऋ. २ । १ ११ । ७)

---

1 उक्तवेद मंत्रों से (क, ख) ब्रह्म दुहिता (ग) चन्द्रतारा (घ) उतथ्यपत्नी बृहस्पति (ङ) शिव मोहनी (च) जलहरी (छ) शिवलिंग (ज) वीर्य याचना (झ ञ, ट, ठ) अश्लीलाभास सम्बन्धी सन्देहों का निराकरण होता है, विशेष ज्ञान के लिये हमारे "पुराण दिग्दर्शन" ग्रन्थ का संदेहाभास निवारणाध्याय पढ़ो ।

(२०) अन्त में आप लिखते हैं कि "आपकी हमारे यहां और हमारी आपके यहां आने जाने की आवश्यकता ही क्या है" आप निराकार को कसम खाकर कहें क्या यह आप का शास्त्रार्थ से भागना नहीं है? आप लेखबद्ध २ बहुत चिल्ला रहे हैं लेकिन हम कब कहते हैं कि लेखबद्ध न हो हम तो आरम्भ से यही कहते हैं कि प्रश्नोत्तर आमने सामने निश्चित समय में लिख पढ़कर जनता को सुना दिये जावें! पश्चात् उन्हें छपा दिया जावे, परन्तु श्रीमती जी जनता के सामने आती हुई लज्जा का स्वांग भरती हैं। एक नियोगन बीवी को शर्म कहाँ तक ठीक हो सकती है, यह आप स्वयं सोच लें! क्या ११×११=१२१ तक की तालीम से कतराती हो? नहीं नहीं! ऐसा न कीजिए! तुम्हारी इस शर्म से कुँभीपाक रौरवादि में सड़ता हुआ स्वामी और भी दुःख पावेगा।

(२१) आप "चोरजारशिखामणिः" पर आक्षेप करते हैं सो तो आर्याभिविनय में—

"मा नः प्रिया भोजनानि प्रमोषीः" मंत्र[1] में दयानन्द ने निराकार को चोर और उपर्युक्त [ट] विभाग में उसे "बहिन का जार कहा है अतः आप के निराकार पक्षमें 'चोर व जार' शब्दों के जो अर्थ होंगे वही हमारे इष्टदेव में समझ लीजिये।

(२२) आपको जनता के सामने शास्त्रार्थ करते हुवे भय है कि कहीं दयानन्दी ग्रन्थों की पोल न खुल जावे! लेकिन उस पोल को कब तक छुपा सकोगे, जब गवर्नमेन्ट से सत्यार्थ प्रकाश की तालीम को फोश होने का सर्टिफिकेट दे दिया हो और

[1]ऋग्वेद १।१०४।८।

वर्तमान संसार के सब से उच्चात्मा निष्पक्ष व्यक्ति महात्मा गान्धी ने इसका समर्थन किया हो फिर भी आप उस पोल को सुरक्षित समझते हो ! जिनके ग्रन्थों में—

—बैल,[1] मेंढा, बकरे से नियोग करना, विद्यार्थियों[2] की गुद···ना, कंवारी[3] कन्याओं द्वारा पुरुष-लिङ्ग को शहद में गलेफ कर मीठा बनाना, मोटे चूतड़ों[4] से साँपों को पकड़ना, बैल[5] की गांड में घुस जाना, भंग[6] पीकर भंगी हो जाना, रमा[7] बाई को बुलाकर उसे···करना, कुश्ते खाकर नन्हीजान को कोकशास्त्र पढ़ाना, चौदहवर्ष तक जमींदार के लड़के से करवाना कंवारी[10] कन्याओं को···करवा कर वर परीक्षा करना, वीर्य[10] का खैंचना, लिं···[12] को ढीला छोड़ते हुए ऊपर को·· ना, नाक[13] से नाक आंख से आंख और उससे वह ठीक लेवल पर अगर[14] इस खैंचातानी में दर्वाजा फट जावे तो स्वामी जी के अनुभूत नुसखे से तंग करना, गाय[15] बैल की तरह आसन बाँध कर विपरीत रति से गाभिन करना, अपान[16] वायु को रोक कर दिमाग में गन्दगी भरना, इत्यादि २ दुनियां भर की गंदगी हो वह समाज जनता के सामने क्या मुँह लेकर खड़ा हो सकता है।

टिप्पणी—[1]दयानन्दी यजुर्वेदभाष्य १९। ६०॥ [2]उक्त यजुर्भाष्य ६। १४॥ [3]सं० वि० विवाह प्रकरण। [4]यजुर्भाष्य २५। ७॥ [5]दयानन्द चरित्र दर्पण पृष्ठ १९॥ [6]द० च० दर्पण १९॥ [7]दयानन्द लेखावली ।'फक्कड़' का कंजर नम्बर॥ [9]द० च० दर्पण पृष्ठ ८॥ [10]सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ९३॥

[11]स. प्र. पृष्ठ ९३॥ [12]स. प्र. पृष्ठ ९३॥ [13]स. प्र. पृष्ठ ९६॥ [14]स. प्र. पृष्ठ २४। ९४॥ [15]यजुर्भाष्य २८। ३२॥ [16]यजुर्भाष्य ८४। ८॥

अगर शर्म है तो इन ग्रन्थों की वैदिकता सिद्ध करो ? नहीं तो चुल्लू भर पानी में डूब मरो !!

(२३) आप शास्त्रार्थ से पिंड छुड़ाना चाहते हैं इसी कारण आज तक के पत्रव्यवहार में आपने न तो हमारे लिखे हुवे किसी भी नियम को स्वीकार किया है और नाहीं अपनी ओर से कोई उचित नियम लिख भेजा है ।

परन्तु गत वर्षों की भांति अब की बार हम आपको किसी प्रकार भी भागने नहीं देंगे । अतः खुले शास्त्रार्थ से आपको भय है तो आप अपने आग्रह के अनुसार छुपे २ ही सही—हमारे पुराणों में से किसी एक पुराण के तीन प्रश्न लिख भेजिए । हम उनका सप्रमाण उत्तर आपको लिख भेजेंगे इसी प्रकार हम भी शीघ्र ही सत्यार्थ-प्रकाश के कोई तीन प्रश्न भेजेंगे आप हमें उत्तर लिख भेजना । पहिली बार के उत्तर ही दोनों पार्टियों के यथार्थ उत्तर समझे जावेंगे । प्रश्न पहुंचने के समय से ७२ घन्टे के अन्दर उत्तर पहुंच जाने चाहियें । और उन प्रश्नोत्तरों को निर्णय के लिए पार्जिटर साहिब संस्कृत प्रोफैसर औक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी को या ए० सी० बूलनर साहिब चांसलर पंजाब यूनिवर्सिटी को अथवा आपके चुने हुये अस्मदानुमोदित किसी निष्पक्ष संस्कृत ज्ञाता को भेज देंगे । यदि आप भयवश मध्यस्थ निर्णय न चाहते हों तो उन्हें छपवा कर जनता में बांट दिया जावेगा । और जनता ही उसका निर्णय कर लेगी । आशा है अब आपको भागने का अवसर नहीं रहा होगा ।

भवदीय प्रतिवादि भयंकर—
काहनचन्द कपूर
मन्त्री सनातन धर्म सभा नैरोबी

आर्यसमाज का पांचवां पत्र

आर्य समाज नैरोबी
ति० १३-६-२७

सेवा में—

श्री मन्त्री सनातन धर्म सभा नैरोबी।

नमस्ते! आपका ता० ८-६-२७ का पत्र पहुंचा, तदनुसार निवेदन है कि आपने अपने उक्त पत्र में शिष्ट मर्यादा का उल्लंघन कर जो कुछ लिखा है उसका उत्तर हम इतना ही देना चाहते हैं कि श्री० स्वामी दयानन्द सरस्वती जी उदीच्य ब्राह्मण कुलोत्पन्न थे। यह बात गत वर्ष मोरबी रियासत के टंकारा गांव में जो "श्रीमद्दयानन्द जन्मशताब्दी महोत्सव" हुआ उस में श्री स्वामी जी के कौटुम्बिक मनुष्य भी सम्मिलित हुए थे, उससे निश्चित हो चुकी है। इस कारण श्री स्वामी जी उच्च कुलोत्पन्न थे इस विषय में कोई भी बुद्धिमान् अब शंका नहीं उठा सकता। यदि उठावे तो उसका सूर्य पर थूकने से अपने मुख का बिगड़ना ही होगा। किसी की शक्ति नहीं कि अब कोई इस बात को मिथ्या ठहरा सके। उस महोत्सव के प्रेसिडेण्ट मोरबी रियासत के श्रीमान् ठाकोर साहेब स्वयं हुवे थे। और उन्होंने श्री स्वामी जी को जन्म से अपनी रियासत का भूषण माना था।

अनार्य्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता।
पुरुषं व्यंजयन्तीह लोके कलुषयोजिनम्॥
(मनु. अ. १० श्लो. ५८)

[1]इस मनु के श्लोकानुसार अपने लेखों और अपने भाषणों से अनार्यता आदि गुणों का जनता में साक्षात् प्रदर्शन कराके अपने कुल का परिचय अच्छी प्रकार से दे दिया है। यह भी अच्छा ही हुआ। और—

जातो व्यासस्तु कैवर्त्या श्वपाकश्च पराशरः।
शुक्याः शुकः कणादाख्यस्तथोलूक्याः सुतोभवत् ॥२२॥

मृगीजोथर्षश्रृङ्गोपि वशिष्ठो गणिकात्मजः।
मन्दपालो मुनिश्रेष्ठो नाविकापत्यमुच्यते ॥२३॥
(भ० पु० ब्रा० प० अ० ४२)

अर्थात्—व्यासजी धीवरी के गर्भ से, पराशर मुनि चाण्डाली के पेट से, शुकदेव शुकी के उदर से, कणाद उलूकी से, ऋष्य श्रृङ्ग हरिणी से, वशिष्ठ वेश्या से, मन्दपाल मुनि नौका चलाने वाली से उत्पन्न हुवे हैं। यह सब आपके पूर्वज हैं, और आज बड़े अभिमान से उनको पूर्वज मानते आये हैं। और उनको

---

[1]टिप्पणी—खलः सर्षपमात्राणि परछिद्राणि पश्यति।
आत्मनो विल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥

अर्थात्—खल पराये के छोटे २ दोषों को भी खूब देख सकता है परन्तु अपने महान् दोष भी नहीं सूझते। यह नीतिबाक्य उक्त समाजी पर सोलहों आने घटता है, पाठक आरम्भ से अन्त तक पत्रव्यवहार को पढ़कर देखें कि हमारी ओर से 'शठं प्रति चरेच्छाठ्यम्' के अनुसार समाजी की नोंक झोंक का मुंह तोड़ उत्तर तो अवश्य दिया गया है परन्तु अपनी ओर से कोई असभ्य आक्षेप करने का प्रयत्न नहीं किया गया। तथापि वह बार बार हमें तो उपालम्भ देता है परन्तु अपनी काली करतूत को फूटी आंखों भी नहीं देखता।

पूर्वंज कहने में और उनके वंशज कहलाने में जिनको कुछ भी लज्जा नहीं आती उनके लिये तो श्री० स्वामी दयानन्द सरस्वती जी अच्छे होने चाहियें।

आपने पुनरुक्ति करके हमको केवल संहिता प्रमाण देने के लिए लिखा है, वह अनुचित है। शिक्षा कल्पादि और न्याय मीमांसादि ग्रन्थ ऋषिकृत होने पर भी वेदों के अंग तथा उपांग माने गये हैं। यह संस्कृत का प्रत्येक विद्वान् अच्छे प्रकार जानता है। प्रसंगानुसार अंग उपांग और शाखा सहित 'वेद' कहाता है और कहीं केवल संहिता का वाचक लिया जाता है। यह बात हमने पूर्व पत्रों में मन्वादि के वचनों से सिद्ध कर दिखाई है। उसी के अनुसार हम शास्त्रार्थ में बर्ताव करेंगे।

आपने अपने पत्र के अन्त में लेखबद्ध शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया है, यह आनन्द की बात है।

उसके अनुसार हम हमारे पूज्य पं० श्री बालकृष्ण शर्म्मा जी के हस्ताक्षर से आपके लिखे अनुसार पुराणों में से केवल "भागवत" पुराण पर तीन प्रश्न[1] इस हमारे पत्र के साथ लिख भेजते हैं? उनका उत्तर आप भी निश्चित समय में अपने पंडित जी के हस्ताक्षर से लिखवा भेजेंगे ऐसी आशा है।

आपने अपने पत्र के अन्त में लिखा है कि "पहिली वार के उत्तर ही दोनों पक्षों के यथार्थ उत्तर समझे जावेंगे" इस विषय में हम चाहते हैं कि हर तीन प्रश्नों पर उत्तरात्मक लेख उभय पक्षों की ओर से अधिक से अधिक चार २ वार हों तो अच्छा

टिप्पणी (१) आर्यसमाज के इस पत्र के साथ जो प्रश्न आये थे वे ज्यों के त्यों आगे छपे हैं।

है। ऐसा करने से प्रश्नों के उत्तर साङ्गोपाङ्ग लिखने में उभय पक्षों को पूरा अवकाश मिलेगा। और प्रश्नोत्तर की मीमांसा भी जनता अच्छे प्रकार कर सकेगी।

भवदीय उत्तराभिलाषी
गुरुदासराम
सं० मन्त्री आर्य्यसमाज नैरोबी

हमारा उत्तर

श्रीसनातन धर्म सभा
नैरोबी १६-६-२७

मन्त्री महाशय !

आर्यसमाज नैरोबी

जय श्री कृष्ण। आपका १३-६-२७ का पत्र पहुंचा साथ ही प्रश्न पत्र भी मिले। स्वामी दयानन्द के विषय में आपने जो लिखा है वह "वन्ध्या पुत्र" के समान सर्वथा सत्य होगा! परन्तु जब तक चौधरी जियालाल कृत "दयानन्द चरित दर्पण" संसार में विद्यमान रहेगा तब तक आपकी कपोल कल्पित बातों का मूल्य काणी कौड़ी भी नहीं ठहर सकता। हमने अपने किसी पत्र में भी स्वयं कुछ नहीं कहा है, हाँ! जहाँ आपने लिखा है उसका खरा टका सा उत्तर अवश्य दिया है इसलिए "अनार्यता" आदि मनुश्लोक आपकी आपके दादा गुरु की कुलीनता का नग्न नमूना है।

व्यासादि के विषय में आपने जो लिखा है वह आपकी बे समझी का नतीजा है जिसे हम समयाभाव से लिखने में असमर्थ हैं। नहीं तो—

(क) उतोसि मैत्रावरुण वसिष्ठ उर्वश्या ब्रह्मन्मतन-सोऽधिजातः।

(ऋ. ५।३।२४।)

(ख) आवाराय कैवर्तम्। (यजुः ३०। १६)

इत्यादि वेद मन्त्रों से बताते कि कैवर्तादि शब्दों के क्या अर्थ हैं, और उक्त सभी महर्षि किस प्रकार मानसिक सृष्टि के पवित्रात्मा व्यक्ति थे अपने पूर्वजों को भला बुरा कहने से दयानन्द का कापड़ी कुल नहीं छुप सकता।

संहिता भाग के प्रमाण देकर दयानन्दी ग्रन्थों की वैदिकता सिद्ध करने से आप बहुत घबड़ाते हैं। परन्तु जब तक आर्यसमाज केवल संहिता भाग को वेद कहने का दुराग्रह नहीं छोड़ेगा तब तक उसे ऐसा करना ही पड़ेगा।

हमने अपने पूर्व पत्र में दयानन्दी ग्रन्थों का थोड़ा सा नमूना दिखाया था जिसे "मौन भाव" से आपने स्वीकार कर लिया, यह आनन्द की बात है। आपने अच्छा ही किया जो इस दल-दल में पांव नहीं रक्खा नहीं तो ऐसे फंसते कि निकलना दुर्भर हो जाता। आपकी यह बुद्धिमत्ता "प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूराद-स्पर्शनं वरम्" वाली नीति के अनुसार काबिले तारीफ है।

आपके पंडित जी के प्रश्नों का उत्तर हम इस पत्र के साथ भेज रहे हैं हमें अपने इस उत्तर पर सर्वथा भरोसा है अतः हम इसके ही वास्तविक उत्तर होने की आपको सूचना दे देते हैं।

आप इसे छपा कर बाँट सकते हैं। अब हम जो आपको प्रश्न भेज रहे हैं उनका भी आप प्रथम वार ही यथार्थ उत्तर दिलाने की चेष्टा कीजिये। यदि आपको अपने पहिले उत्तर के यथार्थ होने में कोई संदेह हो तो फिर हम आपको अधिक से अधिक तीन बार अवकाश देने की उदारता दिखा सकते हैं फिर हमें अधिकार होगा कि उसे छपाकर बांट सकें।

भवदीय

काहनचन्द कपूर

मन्त्री सनातन धर्म सभ नैरोबी

नोट–हमने उस पत्र के साथ आर्यसमाज के तीनों प्रश्नों का उत्तर ठीक ७२ घंटे में लिख कर और पांच घंटे में कापी करके १६-६-२७ को ठीक १ बजे दिन के पहुंचा दिया था जो आगे ज्यों का त्यों छपा है। और निम्नलिखित पत्र के साथ अपने प्रश्न भी भेजे थे जो आगे छपे हैं।

—:o:—

श्री सनातन धर्म सभा

नैरोबी १८-६-२७

मंत्री महाशय।

आर्यसमाज नैरोबी

जय श्रीकृष्ण ! पूर्व निश्चयानुसार अपने पंडित जी के हस्ताक्षर सहित प्रश्न पत्र भेजे जाते हैं, यथा समय अपने पंडित जी के हस्ताक्षर सहित उत्तर भेज कर कृतार्थ कीजिये।

भवदीय

साधुराम

मन्त्री सनातन धर्म सभा नैरोबी

नोट—हमारे प्रश्नों का उत्तर आर्यसमाज की ओर से ७२ घंटे के स्थान में १२० घंटे के बाद पहुंचा जो आगे ज्यों का त्यों छपा है उत्तर के साथ निम्नलिखित पत्र भी था।

आर्यसमाज नैरोबी

२६-६-२७

सेवा में—

श्री मंत्री स. ध. सभा नैरोबी

नमस्ते सविनय निवेदन है कि आपका ता. १८-६-२७ का पत्र तथा आपके पंडित माधवाचार्य जी के सत्यार्थ प्रकाश पर किये हुए प्रश्न पहुंचे उनका सविस्तार उत्तर हमारे पूज्य पंडित जी के हस्ताक्षर से आपके पास भेजा जाता है। हमारे पूज्य पंडित श्री बालकृष्ण शर्मा जी सामाजिक कई आवश्यकीय कारणों से विवश होने से प्रत्युत्तर देने में जो विलंब हुआ है वह आपके ज्ञापनार्थ लिख दिया है।

भवत्कृपाभिलाषी

बाबूराम भल्ला

मंत्री आ० स० नैरोबी
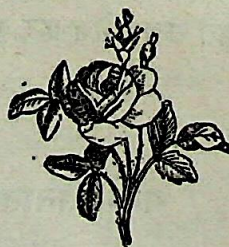
श्री गणेशाय नमः

पहिला शास्त्रार्थ

विषय– 'पुराण वेदानुकूल हैं या नहीं"

वादी–पं० माधवाचार्य शास्त्री, ।
प्रतिवादी—पं० बालकृष्ण शर्मा ।

प्रश्न—१३-६-२७ को प्रातः ७ बजे मिले । उत्तर, १६-६-२७ को मध्याह्न १ बजे पहुँचे ।

आर्यसमाज के प्रश्न

आर्यसमाज नैरोबी
१३-६-२७

सेवा में—

श्री पंडित माधवाचार्य जी !

स. ध. सभा नैरोबी ।

नमस्ते ! सविनय निवेदन है कि आपके मँत्री जी के तिथि ८-६-२७ के पत्रानुसार "भागवत" पुराण के तीन प्रश्न निम्न लेखानुसार यह हैं । सनातन धर्मानुयायी पुराणों के प्रसिद्ध पंडित कालूरामजी ने अपने "पुराण वर्म" नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ४८ पर

"भागवत" शब्द से श्रीमद्भागवत और देवी भागवत इन दोनों का ग्रहण किया है। इसी प्रकार सनातनधर्मानुयायी विद्यावारिधि पंडित ज्वालाप्रसाद जी ने अपने "अष्टादशपुराण दर्पण" नाम के ग्रन्थ में पृष्ठ १६३-१६४ पर श्रीमद्भागवत और देवी भागवत इन दोनों को भी महापुराण कहा है इससे उक्त पंडित जी का "भागवत" शब्द से दोनों का ग्रहण करना स्पष्ट है। अन्यथा पुराणों की संख्या उन्नीस हो जाती है। इसीलिये हमने दोनों ग्रन्थों को भागवत समझ कर उनमें से ही प्रश्न किये हैं। इन प्रश्नों में अन्य पुराणों के जो प्रमाण दिए गए हैं वे सब उन प्रश्नों के पुष्ट्यर्थ हैं .—

प्रश्न—१

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ँ शुद्धमपापविद्धम् ।

(यजु० अ० ४० मंत्र ८)

इस मन्त्र के भाष्य में सब भाष्यकारों तथा टीकाकारों ने परमात्मा को शरीर रहित व्रण रहित, नाड़ी नसों के बंधनों से रहित, शुद्ध और अपापविद्ध अर्थात् पाप रहित माना है, परन्तु श्रीमद्भागवत में इसके साक्षात्, विरुद्ध श्रीकृष्ण को परमात्मा मानकर पर-स्त्री-गमन और चोरी का स्पष्ट दोष लगाया है और यह बात स्वयं भागवत में ही निःशंकतया लिख दी गई है। जैसे कि—

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनाऽऽलभन-नर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेलाऽवलोकहसितैर्व्रजसुंदरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयांचकार ॥

"चूर्णिका" टीका="तथा कृष्णो बाहुप्रसारेणाऽऽलिंगनेन हस्तकेशोरुस्तनेषु स्पर्शेन परिहासेन नखाग्रपातेन क्रीडयाऽवलोकनादिभिश्च गोपीनाँ कामं संदीपयन् क्रीडयामास ।।४६।।

(भा० स्कं० १०, अ० ३० पूर्वार्द्ध)

अर्थात्—उसी मनोहर यमुना तट में जाकर, बाहु फैलाना लिपटना, गले लगाना, कर अलक, जंघा, नीवी (कमर के कपड़े की गांठ) और स्तनों को छूना, हंसी, मसखरी, नखच्छद देना, क्रीड़ा, कटाक्ष, और मन्द मुसकान, इत्यादि से कामोद्दीपन करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र गोपियों के साथ रमण करने लगे।

यह परस्त्री गमन श्रीकृष्ण जी ने वास्तविक किया है, इस बात को आगे हम परीक्षित, और शुकाचार्यजी के प्रश्नोत्तर से स्पष्ट कर देते हैं जिस से रूपकालंकारादि को यहां अवकाश ही न मिलेगा। तथा—

राजोवाच—संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ।।२७।।
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्त्ताभिरक्षिता ।।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ।।२८।।
आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् ।
किमभिप्राय एतं न संशयं छिन्धि सुव्रत ।। २९ ।।
श्री शुकउवाच--धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ।।३०।।

(भा० स्कं० १० अ० ३४ पूर्वार्द्ध)

अर्थात्—राजा परीक्षित ने कहा—ब्रह्मन् ! धर्म की स्थापना और अधर्म के मिटाने ही के लिये पृथ्वी पर जगदीश्वर का यह अंशावतार हुआ है ।। धर्म की मर्यादाओं को बनाने वाले रक्षक और उपदेशक होकर उन्होंने यह परनारी-गमन-रूप विरुद्ध आचरण (अधर्म) क्यों किया ? आप्तकाम अर्थात् भोग वासना रहित पूर्णकाम यदुपति ने यह निन्दित कर्म किस अभिप्राय से किया । हे सुव्रत ! हमको यह बड़ाभारी संशय है कृपा करके इस संदेह को दूर करिये । श्रीशुकदेव जी ने कहा—महाराज ! ईश्वर (समर्थ) लोगों का धर्म के व्यतिक्रम में भी साहस देखा जाता है । इसका कारण यही है कि तेजस्वी लोक अकार्य करने से भी दूषित नहीं होते । देखो अग्नि में जो शुद्ध या अशुद्ध पड़ता है उसको वह भस्म कर देता है, तथापि उस के कारण दूषित नहीं होता ।। श्लोक २७-३५ ।।

(श्री भा० स्कंध १२ श्लोक ३१ में लिखा है पापकर्म तेजस्विओं के लिये भी कीर्तिकर नहीं होसकता । इस लिए उपर्युक्त श्रीमद्भागवत का लेख इस लेख से विरुद्ध जाता है इसका उत्तरदातृत्व भी श्रीमद्भागवत-कारके ऊपर ही है)

उक्त प्रश्नोत्तर से श्रीकृष्ण का परस्त्री गमन शुकाचार्य को अभीष्ट था इसलिये अलङ्कार अथवा कोई आध्यात्मिकादि अन्य अर्थ कदापि नहीं हो सकता । यहां श्रीकृष्ण महान् होने के कारण उन पर परस्त्री गमन का दोष नहीं आ सकता इतना ही शुकाचार्य का समाधान है । श्रीकृष्ण ने परस्त्री गमन नहीं किया यह उन्होंने उत्तर में नहीं कहा । यह श्रीकृष्ण को परस्त्री गमन रूप निन्द्य

कर्म वेदविरुद्ध था। इस बात को शिवपुराणकार ने भी स्वीकार कर स्पष्ट लिखा है कि—

कृष्णो भूत्वान्यनार्यश्च दूषिताः कुलधर्म्मतः।
श्रुतिमार्गं परित्यज्य स्वविवाहाः कृतास्तथा ॥२४॥

(शिव पुराण रुद्र सं २ कु खं ४ अ ६ ॥)

अर्थात्—कृष्ण होकर इन्होंने (विष्णु) ने कुलधर्म से अनेक नारियों को दूषित कर दिया, और वेदमार्ग को छोड़कर इन्होंने अपने विवाह किये। २४॥ अन्यत्र भी लिखा है कि श्रीकृष्ण जी "मदनमोदक" दवा खाकर सैंकड़ों स्त्रियों से रमण करते थे। जैसा कि:—

एतस्य सतताभ्यासाद् वृद्धोपि तरुणायते।
ब्रह्मणश्च मुखात् श्रुत्वा वासुदेवे जगत्पतौ ॥३६॥
एष कामस्य वृद्धचर्थं नारदेन प्रकाशितः॥
येन लक्षैर्नरस्त्रीणामरंस्त यदुनंदनः ॥३७॥

(कामरत्न उपदेश ६ मदन मोदक प्रकरण)

(पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत भाषा टीका) अर्थात्—निरंतर इसके सेवन से बृद्ध भी तरुण होता है। ब्रह्मा के मुख से श्रवण कर वासुदेव जगत्पति से ॥३६॥ यह काम की बृद्धि के अर्थ नारद जी ने कथन किया है। जिसके कारण यदुनन्दन [श्रीकृष्ण] सैंकड़ों स्त्रियों से रमण करते थे ॥ ३७ ॥ यह बात केवल वेद से ही विरुद्ध नहीं किन्तु श्रीकृष्ण जी ने स्वयं कही हुई भगवद्गीता से भी विरुद्ध है। यथा—

यद्यदा चरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ॥२१॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यम् ॥२२॥ अ० ३॥

भावार्थ—श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करते हैं उसको प्रमाण मान कर जनता भी उसी प्रकार आचरण करती है। हे पार्थ ! मुझे तीनों लोकों में कोई भी कर्तव्य नहीं तथापि मुझे कर्म में बर्तना पड़ता है।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

रामानुजभाष्यम्—अहं सर्वेश्वरः सत्यसंकल्पः स्वसंकल्पकृतजगदुदयविभवलयलीलः स्वच्छन्दतो जगदुदयकृतये मर्त्यो-जातोऽपि मनुष्येषु शिष्टजनाग्रसरवसुदेवगृहेऽवतीर्णस्तत्कुलोचिते कर्मण्यतन्द्रितः सर्वदा यदि न वर्तेयम् मम शिष्टजनाग्रसरवसुदेव-सूनोर्वर्त्मा कृत्स्नविदः शिष्टाः सर्वप्रकारेणायमेव धर्मं इत्यनुवर्तन्ते ते च स्वकर्तव्याननुष्ठानाकरणे प्रत्यवायेन चात्मानमुपलभ्य निर-यगामिनो भवेयुः।

भावार्थ—मैं सब का स्वामी और सत्य संकल्प हूं, अपने संकल्प से ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय करना यह मेरी लीला है। मैं अपनी इच्छा से संसार का उपकार करने के लिये मरणधर्मा मनुष्य हुआ हूँ तथापि मैं सर्वशिष्ट जनों में अग्रेसर वसुदेव के घर में अवतार लेकर वसुदेव जी के कुलोचित कर्म में आलस्य छोड़कर सर्वदा यदि न वर्तूं तो शिष्ट लोग मेरा अनुकरण कर नरकगामी होंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्मचेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२९॥

रामनुजभाष्यम्—

अहं कुलोचितं कर्म न चेत्कुर्याम् एवमेव सर्वे शिष्टलोका मदाचारायत्तधर्मनिश्चया अकरणादेवोत्सीदेयुः शास्त्रीयाचाराणामपालनात्सर्वेषाम् शिष्टानाँ संकरस्यच कर्ता स्याम् अत एवेमाः प्रजा उपहन्याम् । इत्यादि ।

भावार्थ—यदि मैं कुलोचित कर्म न करूँ तो इसी प्रकार मेरे आचार के अनुसार वर्तने वाले शिष्ट लोग मेरे अनुसार ही शास्त्रीय कर्म न करने से नष्ट हो जावेंगे और शास्त्रीय आचार का पालन न करने से सब शिष्ट जनों का संकर कर्त्ता मैं होऊंगा इसलिये मैं प्रजा का नाश करने वाला होऊँगा ।

उक्त भगवद्गीता श्लोक और उन पर किये हुए भाष्यों का अभिप्राय देखकर श्रीकृष्ण जी के कहने का स्पष्ट भाव यह है कि वे वासुदेवादि अपने पूर्वजों के उचित शास्त्रीय कर्म ही करना अपना परम कर्त्तव्य समझते थे । उनको यह भय था कि यदि मैं ही कुलोचित शास्त्रीय कर्म न करूं तो संसार के मनुष्य भी कुलोचित शास्त्रीय कर्म न करके नष्ट हो जायेंगे । जब वसुदेव तथा उनके पूर्वजोंने दूसरे की पत्नियों भगनियों तथा पुत्रियों से कभी रहस्य लीला नहीं की तब श्रीकृष्ण जी कुलाचार विरुद्ध परस्त्रियों के साथ रहस्य लीला कैसे कर सकते हैं !!!

श्रीकृष्ण जी भ० गी० अ० १६—२१ में कहते हैं कि—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

अर्थात् –काम क्रोध और लोभ यही तीनों नरक में जाने के द्वार हैं, इस लिये उन तीनों का मनुष्य ने त्याग करना चाहिए। भला इतना सख्त निषेध करने वाले श्रीकृष्ण भागवत लिखे अनुसार कामासक्त होकर परस्त्री गमन रूप पाप कैसे कर सकते हैं? और गोपियों से भी कैसे करा सकते हैं? इस श्लोक में श्रीकृष्ण जी ने धर्म के विरुद्ध चलाने वाले कामादिकों का स्पष्ट निषेध किया है!!

और भा० गी० अ० २–५६ में लिखा है कि:–

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ॥
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५२॥

रामनुजभाष्यम्–

रागोऽप्यात्मस्वरूपं विषयेभ्यः परं सुखतरं दृष्ट्वा विनिवर्तते॥५६॥

भावार्थ–यह है कि विषयों से अत्यन्त सुखकर आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होने पर विषय सम्बन्धी वासना भी निवृत्त हो जाती है।

श्रीमद्भागवत के मतानुसार यदि श्रीकृष्ण साक्षात् परमात्मा ही थे, तो उनका साक्षात्कार कर गोपियों की काम वासना नष्ट हो जानी चाहिये थी। परन्तु भागवतकार ने इसके विपरीत यह लिखा है कि श्रीकृष्ण जी ने स्वयं रहस्य की चेष्टाओं से उनकी काम वासनानों को उत्तेजित किया और गोपियों की कामवासना भी उत्तेजित हो गई।

उपर्युक्त लेखनानुसार श्रीकृष्ण जी **की रासलीला** कर्म वेद और भगवद्गीता के भी विरुद्ध है। अतः आप उसे वेदानुकूल कैसे मान सकते हैं?

प्रश्न २

जब परमात्मा शुद्ध और अपापविद्ध है तब उसमें पापकी संभावना कभी नहीं हो सकती। यह बात हम प्रथम प्रश्न के लेख में प्रमाणसे सिद्ध कर चुके हैं। पौराणिक मतानुसार सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय इन तीनों कामों के कर्ता शंकर, साक्षात् ईश्वर माने गये हैं पुराणों में यह भी लिखा है कि शंकर की भक्ति करने से मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। परन्तु देवी भागवत में लिखा है कि—

शम्भोः पपात भुवि लिंगमिदं प्रसिद्धं, शापेन तेन च भृगोर्विपिने गतस्य ॥ तं ये नरा भुवि भजन्ति कपालिनं तु तेषां सुखं कथामिहाऽपि परत्र मातः ॥

(स्क ५. अ १६. श्लोक १६॥)

इस श्लोक पर नीलकंठ की संस्कृत टीका नीचे लिखे अनुसार है:—

"शंभो पपातेति-यस्य शंभोः सतीवियोगादरण्यगतस्य भृगोः शापात्लिंगं पतितमिदं पुराणादिषु प्रसिद्धम्। स्वलिंगपालनेपि यो न समर्थस्तं शिवं ये भजन्ति तेषामिह परत्र कथं सुखं भूयान्न कथमपीत्यर्थं ॥ १६ ॥

अर्थात् "हे मात! सतीके वियोग से महादेव के अरण्य मध्यस्थ ऋषियों के आश्रम में गमन करने पर भृगुमुनि के शाप से उनका लिङ्ग पृथ्वी में गिरा, यह तो सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। अतः एव जो अपने लिङ्ग की भी रक्षा करने में समर्थ नहीं है उन शम्भु को जो मनुष्य भजते हैं उनको इस काल और उस काल में किस प्रकार सुख होगा?" (पण्डित ज्वालाप्रसाद कृतभाषा टीका)

जिस शंकरजी को पुराणानुयायियों ने अपना उपास्य देव समझा है वह स्वयं ऋषिपत्नियों के सामने हाथ में लिङ्ग पकड़-कर कामियों के समान चेष्टा करने लगे। इसी कारण वे भृगु-ऋषि के शाप की शिकार हुए हैं, यह बात जहां तहां पुराणों में प्रसिद्ध है। जैसा कि लिखा है:—

दिगम्बरोऽति तेजस्वी भूतिभूषणभूषितः।
स चेष्टां सकदर्यां च हस्ते लिङ्गं विधारयन्॥
त्वया विरुद्धं क्रियते वेदमार्गविलोपि यत्।
ततस्त्वदीयं तल्लिङ्गं पततां पृथिवीतले॥ १७॥

(शि० पु० रु० सं. ४ अ. १२)

अर्थात्—साक्षात् दिगम्बर अति तेजस्वी विभूति भूषण से शोभायमान कामियों के समान चेष्टा करते हुए हाथ में लिङ्ग धारण किये तुम वेदमार्ग को लोप करने वाले, विरुद्ध कार्य को करते हो इस कारण तुम्हारा यह लिङ्ग भूमि पर गिर पड़े॥१०—११॥

देवी भागवत के इस द्वितीय प्रश्न पर विचार करने से सार यह निकला कि शिवजी ने वेद विरुद्ध ऋषिपत्नियों से चेष्टा की और भृगु के शाप से उनके लिङ्ग का भूमि पर पतन हुआ। जिस पाप के कारण वे उपासना के भी काम के न रहे। भला ऐसे शिव को ईश्वर मानकर कोई वैदिक धर्म्मानुयायी मनुष्य अपना उपास्य देव कैसे मान सकता है? उक्त कथा को यदि कोई रूपक, आध्यात्मिक, तथा आधिदैविक कहकर उसके वास्त-विक भाव से विरुद्ध उड़ाने लगे तो यह उसका कहना विद्वानों में हास्यास्पद होगा। देवी भागवतकार स्वयं इन दूषित देवों

को शरीरधारी स्पष्टतया मान रहा है। जैसा कि. दे. भा. स्क. अ. १३ राजा जनमेजय व्यास जी से प्रश्न करते हैं :—

वसिष्ठो वामदेवश्च विश्वामित्रो गुरुस्तथा।
एते पापरताः क्वात्र गतिर्धर्म्मस्य मानद ॥१२॥
इन्द्रोग्निश्चन्द्रमा वेधा परदाराभिलम्पटाः।
आर्यत्वं भुवनेष्वेषु स्थितं कुत्र मुने वद ॥१३॥
व्यास उवाच (व्यास कहते हैं)—
किं विष्णु किं शिवो ब्रह्मा मघवा किं बृहस्पतिः।
देहवान्प्रभवत्येव विकारैः संयुतस्तदा ॥१५॥
रागी विष्णुः शिवो रागी ब्रह्मापि रागसंयुतः।
"रागवान्किमकृत्यं वै न करोति नराधिप।"
रागवानपि चातुर्य्याद्विदेह इव लक्ष्यते ॥१६॥
संप्राप्ते संकटे सोऽपि गुणैः संबाध्यते किल।
कारणाद्रहितं कार्यं कथं भवितुमर्हति ॥१७॥
ब्रह्मादीनाँ च सर्वेषां गुणा एव हि कारणम्।
पंचविंशत्समुद्भूता देहास्तेषां न चान्यथा ॥१८॥
काले मरणधर्मास्ते संदेहः कोत्र ते नृप।
परोपदेशे विस्पष्टं शिष्टाः सर्वे भवन्ति च ॥१९॥

अर्थात्—(राजा जनमेजय व्यास जी पूछते हैं कि) हे मानद ! जब कि सब देवता गण, वसिष्ठ वामदेव, विश्वामित्र और बृहस्पति इत्यादि तपोधन मुनिगण भी काम क्रोध में

अभिभूत, लोभ में विनष्ट चित्त, छल कर्म्म में दक्ष और पाप में निरत हैं तब धर्म्म की फिर क्या गति है ॥१२॥ हाय ! जब कि इन्द्र अग्नि, चन्द्रमा और विधाता (ब्रह्मा) यह भी काम के लोभ में अभिभूत होकर परदारासक्त हुवे तब इस संपूर्ण भुवन में फिर शिष्टता कहां रही ? ॥१३॥ हे विमलात्मन् ! जब संपूर्ण देवता गण और मुनि गण लोभ में ग्रसित हुवे तो फिर किसका वचन उपदेश स्वरूप ग्रहण करें ? ॥१४॥ व्यास जी बोले हे राजन् ! इन्द्र हो बृहस्पति हो व्रह्मा हो विष्णु हो या महादेव हो जो देह धारण करेगा उसको ही पूर्वोक्त अहंकार और लोभादि विकार दोष में लिप्त होना पड़ता है, इसमें संदेह नहीं ॥१५॥ हे महाराज ! ब्रह्मा विष्णु और शिव यह सभी विषयानुरागी हैं। अतएव अनुरागी व्यक्ति क्या अकार्य्य नहीं कर सकता ?॥१६ हे नरेन्द्र ! अनुरागी व्यक्ति चातुर्य वश से केवल मुक्त के समान दीखते हैं। किन्तु संकट स्थल उपस्थित होने पर तिस समय स्वस्व गुण से उनकी धूर्तता प्रकाशित हो जाती है, तब वह गुणों के वशीभूत होकर कर्म्म करते हैं, अतएव इस विषय में तीनों गुणों को ही कारण जानना चाहिये, क्योंकि कारण के बिना कभी कार्य की उत्पत्ति का सम्भव नहीं हो सकता ॥१७॥ ब्रह्मादि देवताओं के भी तीनों गुण ही कारण हैं। कारण कि उन सब के देह भी प्रधान महत्तत्त्वादि २५ (पच्चीस) तत्त्वों से उत्पन्न हुवे हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥१८॥ हे नृपवर ! ब्रह्माजी भी मरण धर्म्मशील अर्थात् नाशवान् हैं अतएव इसमें फिर आपको संदेह क्या है ? आप जानिये कि सभी दूसरे को उपदेश देने के समय भली भांति शिष्टता प्रकाश करते हैं ॥१९॥

(पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत भाषा टीका)

उपर्युक्त देवी भागवत के श्लोकों से विष्णु, शंकर, ब्रह्मा आदि का शरीरधारी होना और लम्पट बन कर परदारासक्त होना ये दोनों बातें स्पष्ट सिद्ध हैं। इसी प्रकार "लिंग" शब्द का अर्थ भी पुराणानुयायी पण्डितों ने "मूत्रेन्द्रिय" ही किया है। जैसे कि सनातनी पंडित हरिकृष्ण शास्त्री कृत "ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड" (जो कि बम्बई के "श्रीवेङ्कटेश्वर" प्रेस में छपा है) नामक पुस्तक में पृष्ठ २१५—२१६ पर लिखा है—

ऋषय ऊचुः—

रहस्यं पूज्यते लिंगं कस्मादेतन्महामुनेः ।
विशेषात्संपरित्यज्य शेषाङ्गानि सुरासुरैः ॥१॥ इत्यादि

(स्कन्द पुराण, ६ नागरखण्ड अ. १)

अर्थात्—(शौनकादि) ऋषि सूत जी से पूछते हैं कि महाराज सब देव और दानव शिवजी के अन्य अङ्गों को छोड़ कर उनके गुप्त लिंग की पूजा क्यों करते हैं ? वह कहिये" इस प्रश्न का उत्तर इसी पुस्तक के पृष्ठ १९१ पर निम्न प्रकार है—

"सर्वाण्यंगानि संत्यज्य तस्माल्लिङ्गम्प्रपूज्यते"—

अर्थात्—इसीलिए शिव जी के सब अंगों को छोड़ कर उनके उपस्थ की ही पूजा करनी चाहिये, यदि कोई ऐसा न कर शिव जी के अन्य अङ्गों की पूजा करे तो स्वयं शिव जी ही इस बात का निषेध करते हुवे कहते हैं कि—

लिंगं विहाय मे मूर्ति पूजयिष्यन्त ये नराः ।
वंशच्छेदो भवेत्तेषां (तच्छ्रुत्वा सर्वं देवताः") ॥

अर्थात्—जो मनुष्य मेरे उपस्थ को छोड़कर अन्य अङ्गों की पूजा करेंगे उनके वंश का उच्छेद हो जायेगा।

इसलिये ऐसे वेद विरुद्ध कर्म्म करने वाले शंकर जी को उपास्यदेव ठहराना—यह पुराणों की शिक्षा जनता के लिये हानिकारक अवश्य है। यदि ऐसा नहीं है तो कृपया इस द्वितीय प्रश्न का समाधान कीजिये।

प्रश्न ३

प्रथम प्रश्न के आरंभ में हमने यजुर्वेद अ० ४० का मंत्र दिया है, उसके अनुसार परमात्मा शुद्ध और अपापविद्ध हो सकता है, उसमें पाप लेश की संभावना नहीं हो सकती। परन्तु सृष्टि की उत्पत्ति करने वाले ब्रह्मा के विषय में लिखा है कि—

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयंभूर्हरतीं मनः।
अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम् ॥२८॥
तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः।
मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात् प्रत्यबोधयन् ॥२९
नैतत्पूर्वैः कृतं त्वद्य न करिष्यन्ति चापरे।
यत्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्यांगजं प्रभुः ॥३०॥
तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो।
यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते ॥३१॥

(॥ श्रीमद्भागवत स्क. ३ अ. १२ ॥)

अर्थात् ब्रह्मा के एक वाक् नाम सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई। उस मनोहारिणी एवं अकामा कन्या की कामना ब्रह्मा ने कामोन्मत्त होकर की—ऐसा हमने सुना है ॥२८॥ पिता की बुद्धि अधर्म में लिप्त देख कर मरीचि आदिक पुत्र गण सविनय वचन कह

कर उनको इस प्रकार समझाने लगे ॥२९॥ भगवन् ! आप किस कार्य में प्रवृत्त हैं, इस कार्य को प्रथम किसी ने न किया होगा। और न आगे कोई करेगा। आप प्रभु होकर काम का दमन न कर दुहिता गमन करना चाहते हैं। ॥३०॥ हे जगद्गुरु ! महा-तेजस्वियों को भी यह कार्य कभी कीर्तिकर नहीं हो सकता, क्योंकि उन्हीं तेजस्वी महात्मागण के चरित्रों का अनुकरण करके लोग कल्याण को प्राप्त होते हैं। अतः यदि अनुकरणीय-चरित्र महात्माओं का चरित्र निकृष्ट होगा तो संसार मात्र कुमार्ग पर आरूढ़ होगा ॥३१॥

श्रीमद्भागवत स्क. १० (उत्तरार्ध) अध्याय ८५ में ऐति-हासिक वृत्तान्त लिखा है कि जो देवकी के छः पुत्र कंस के हाथ से मारे गये थे उनका दर्शन करने की अभिलाषा से देवकी ने कृष्ण और बलराम की दीनवाणी से प्रार्थना कर कहा कि हे अनन्तबलराम ! और योगेश्वर श्रीकृष्ण ! तुमने अपने सामर्थ्य से गुरु का मृतपुत्र गुरुदक्षिणा में यमलोक से लाकर गुरु को अर्पण किया। अतः मुझ पर भी कृपा कर मेरे मृत छः पुत्रों को जिनको कि कंस ने जन्मते ही मार डाला था उनको योगबल से बुलाकर मुझे दिखा दो। इस प्रसंग में इन छः पुत्रों की पूर्व घटना कहते हुवे भागवतकार लिखते हैं—पहले स्वायम्भुव मन्वन्तर में ऊर्णा के गर्भ से मरीचि ऋषि के छः पुत्र हुवे थे। ब्रह्मा जी को अपनी कन्या पर अनुरक्त देखकर वे देवसदृश ऋषि-पुत्र हंसे थे। इसी पाप से वे उसी क्षण आसुरी योनि को प्राप्त हुवे, अर्थात् उनको हिरण्यकशिपु के वीर्य से जन्म लेना पड़ा उस जन्म के बाद योगमाया द्वारा लाये जाकर वे देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए और उनको दुष्ट कंस ने मार डाला इत्यादि श्लोक ४७ से ५१॥

इसी अभिप्राय की ऐतिहासिक कथा दे. भा: स्क. ४ अ. २२ में भी आयी हुई है।

दे. भा. स्क. १ अ. १४ में व्यास जी ने अपने पुत्र शुकाचार्य को विवाह करने का उपदेश देते हुवे कहा है कि—

"हे महाभाग ! वह इन्द्रियां अवश्य ही मादक हैं यह पांचों मन के सहित बिना स्त्री के दुरन्त हैं ।।६४।। हे महामते ! इस कारण उन के जय के निमित्त दार संग्रह करो, वार्धक (बुढ़ापा) में तप करे यह शास्त्र में कहा है ।।६५।। हे महाभाग ! विश्वामित्र भी दुस्तर तप करके तीन सहस्र वर्ष तक निराहार जितेन्द्रिय रहे ।।१६।। और तिस पर भी वह महातेजस्वी वन में मेनका के सहित मोहित हो गये, उन्हीं के वीर्य से शकुन्तला उत्पन्न हुई थी ।।६७।। और हमारे पिता पाराशर दास कन्या काली को देखकर काम बाण से अर्दित हो नौका में स्थित उसे ग्रहण करते हुए ।।६७।। ब्रह्मा भी सरस्वती को देखकर कामबाण से पीड़ित हुवे थे, और उनके वेग को शिवजी ने निवारण किया था ।।६६।। हे कल्याण ! इससे तुम हमारे कल्याण वचनों को मानो, किसी सुकुलोत्पन्न कन्या को वरण कर वेद मार्ग का आश्रय करो ।।७०।।

(पण्डित ज्वालाप्रसाद कृत भाषा टीका)

कई पण्डित महाशय उक्त ब्रह्मा और दुहिता की कथा को रूपक तथा तात्पर्यार्थ देकर उड़ाना चाहते हैं, वे कहते हैं कि वास्तव में ब्रह्मा और दुहिता की कथा—"प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम्" इत्यादि वेद ब्राह्मणादि लिखित सूर्य और उसकी पुत्री उषा इन दोनों के जो रूपक उक्त ग्रन्थों में लिखे हैं उनके ही साथ इस कथा का सम्बन्ध होने से देहधारी ब्रह्मा और देह

धारी उनकी पुत्री इनका ग्रहण यहाँ न करना चाहिये। इस बात के उत्तर के लिये ही हमने पुराणोक्त इतिहास के दो उदाहरण ऊपर लिखे हैं। उनको देखकर कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य ब्रह्मा और दुहिता की कथा को रूपकालंकार से उड़ा नहीं सकता, इतने पर भी यदि कोई उसे उड़ाने का साहस करे तो पुराणोक्त शरीरधारी ब्रह्मा उसकी शरीर धारी दुहिता, मरीचि तथा उसके छः पुत्र, उक्त छः पुत्रों का ब्रह्मा के शाप से हिरण्यकशिपु तथा देवकी के यहां जन्म लेना, बलराम नथा श्रीकृष्ण का उन देवकी के मृतपुत्रों को पाताल में जाकर राजाबलि से लाकर देवकी के साथ मिलाना, और बलराम तथा श्रीकृष्ण आदि व्यक्तियों को रूपकालंकार से वास्तविक शरीरधारी ऐतिहासिक व्यक्तियों के न ठहरने पर आपका पुराणोक्त सारा इतिहास मिथ्या ठहर जावेगा।

ऊपर दूसरे प्रश्न पर लिखते हुवे देवीभागवत की व्यासोक्ति से यह सिद्ध कर दिखाया है कि शिव, ब्रह्मा, विष्णु आदियों का शरीर २५ (पच्चीस) तत्वों से बना हुवा होने के कारण वे लम्पट बन कर परदारासक्त हुवे हैं।

सनातनधर्माभिमानी पुराणों के प्रसिद्ध पंडित कालूराम जी ने अपने "पुराण-कलंकाभासमार्जन" पुस्तक के पृष्ठ २७ पर ब्रह्मा तथा उनकी दुहिता के रूपकालंकार का खण्डन करते हुए ब्रह्मा को ईश्वर का साकार स्वरूप कहकर ही स्पष्ट स्वीकार किया है। यथा—

"यहां तो ठीक पता लगाना है कि ब्रह्मा कहते किसको हैं? ब्रह्मा नाम ईश्वर के साकार रूप का है (यो देवेभ्यः०) इस मंत्र

पर उव्वट, महीधर, दयानन्द, शंकर, मनु आदि २ सभी भाष्य कारों ने ईश्वर के साकार रूप को ब्रह्म माना है......" इत्यादि।

यहां इस तीसरे प्रश्न का अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न करने वाले ब्रह्मदेव का कामातुर होकर अपनी पुत्री के पीछे दौड़ना यह उनके ईश्वरत्व से उनको गिराता है। ईश्वर तो शुद्ध और पापरहित ही हो सकता है। कृपया इस तीसरे प्रश्न का भी यथार्थ उत्तर देकर कृतार्थ कीजिये।

भवदुत्तराभिलाषी
बालकृष्ण शर्मा

सनातनधर्म के उत्तर।

श्रीसनातन धर्म सभा
नैरोबी १६-६-२७

श्री पं० बालकृष्ण जी !
आर्यसमाज नैरोबी

जय श्रीकृष्ण ! आपके ति० १३-६-२७ के प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार है।

१-प्रथम प्रश्न का उत्तर।

आपके प्रथम प्रश्न का सार यह है—कि "स पर्यगात्" (यजुः ४०। ८) आदि मंत्र में ईश्वर को शरीर रहित-व्रण रहित, नाड़ी

नसोंके बन्धनों से रहित, शुद्ध और अपापविद्ध अर्थात् पाप रहित माना है, परन्तु श्रीमद्भागवत में इसके साक्षात् विरुद्ध श्रीकृष्ण को परमात्मा मान कर पर-स्त्री गमन और चोरी का स्पष्ट दोष लगाया है"—हम पहिले आपके मंत्र पर विचार करना चाहते हैं जो कि आपने अपने प्रश्न का आधार बनाया। आप इस मंत्र के प्रत्येक पद पर तनिक भी विचार कर लेते तो न केवल कृष्ण लीला विषयक अपितु अवतार मात्र के लीला चरितों पर जो संदेहाभास हो जाया करते हैं वे सभी दूर हो जाते, क्योंकि इस मन्त्र में स्पष्टतया बताया गया है कि अवतारी शरीर किस प्रकार के हुवा करते हैं, यथा—"स्वयंभू" अर्थात्-वह ईश्वर स्वयमेव आत्म माया द्वारा उत्पन्न होता है, और "अव्रणमस्नाविरम्" अर्थात्—स्थूल शरीर में वर्तमान व्रण और अस्नाविर अर्थात्-नाड़ी समूह से वर्जित होता है (इन दो विशेषणों से भौतिक स्थूल शरीर से विलक्षण शरीर धारी कहा है) अतएव "अपापविद्धम्" अर्थात् जब वह शरीरी होता हुवा भी साधारण मनुष्यों के पाँचभौतिक स्थूल शरीरों की भांति विकारयुक्त नहीं होता तो उसके लिए संसार का कोई भी कार्य पुण्य पाप रूपेण बंधन का कारण नहीं हो सकता। गीता में भी इसे स्पष्ट किया गया है। यथाः—

[क] अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥४६॥

[ख] न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥६।६॥

[ग] अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ९ । ११

अर्थात्—(क) हे अर्जुन, मैं [कृष्ण] अज और अव्ययात्मा तथा सब भूतों का ईश्वर भी हूं तथापि अपनी प्रकृति-स्वाभाविक सामर्थ्य को आश्रय कर अपने संकल्प से उत्पन्न होता हूँ । (ख) हे धनंजय ! मुझे वे कर्म बान्ध नहीं सकते ॥ (ग) मेरे श्रेष्ठ भाव को नहीं जानते हुए अज्ञानी मुझे मनुष्य सम्बन्धी शरीर धारण किये हुवे को भूतों का ईश्वर नहीं जानते अर्थात्-अज्ञानी पुरुष मुझे भी शरीरधारी देख कर साधारण मनुष्यों की भान्ति कर्मबद्ध समझा करते हैं । वस्तुतः मैं सब कर्म करता हुआ भी तद्बन्धनमुक्त हूँ क्योंकि में आत्मस्वरूप हूँ ।

इस प्रकार उपर्युक्त आपके मन्त्रद्वारा तथा गीता के समर्थन से यह निश्चित हुआ कि अवतार सर्व कर्म बन्धन रहित काम क्रोधादि विकार वर्जित, नित्यशुद्ध नित्य बुद्ध, और सच्चिदानन्द स्वरूप होते हैं ।

अब हम कृष्णचरित्र की वैदिकता और रासलीला का रहस्य वर्णन करते हैं । वेद भगवान् कहते हैं—

कृष्णंत एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्ण्वर्चिवपुषामिदेकम् ।
यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः ॥
ऋ. मं. ४ सू. ७ मं. ९ ।

(नीलकंठ भाष्यम्) कृष्णंत एम इति-हे भूमन् ! (ते) तव, (पु०) तिसो पुरः (रुशतः) नाशयतः—यदा स्थूलसूक्ष्मकारण

देहान् ग्रसतस्तुर्यस्वरूपस्य, (यत्कृष्णंभा:) सत्यानन्दचिन्मात्रं रूपं तत्तु (एमः) प्राप्नुयामः, यस्य तव (एकमिति) एकमेव (अर्चिः) ज्वालदंशमात्रं समष्टिजीवं (वपुषां) देहानामनेकेषु (चरिष्णुः) भोक्तृरूपेण वर्तते। यंत् कृष्णंभा: (अप्रवीता) नास्ति प्रकर्षेण वीतं गमनं संचारो यस्याः सा अप्रवीता निरुद्ध-गतिर्निगडे ग्रस्ता देवकीत्यर्थः [कृष्णाय देवकीपुत्रायेति छान्दोग्ये (३। १७।६। देवक्या एव कृष्णमातृत्वदर्शनात्] सा (गर्भ) स्वगर्भे (दधते) धारयति [दधधारण इत्यस्य रूपम्] (ह) प्रसिद्धं सत्वं (जातः) गर्भतो बहिराभूतः सन् (सद्य इद्) सद्य एव (उ) निश्चितं (दूतः) [दुनोतीति दूतः] मातु खेदकरोऽतिवियोगदुःखप्रदो भवसीत्यर्थः [एतेन देवकीपतेर्वसुदेवस्य गृहे जन्म धृतमिति सूचितम्]

(भावार्थ) हे परमात्मन् ! आप कृष्णावतार में कारागारा-वद्ध श्रीदेवकी और वसुदेवजी द्वारा उत्पन्न होकर उन्हें वियोग में छोड़कर ब्रजभूमि में निवास करते हुवे।

उपर्युक्त मन्त्र में कृष्ण भगवान् के चरित की वैदिकता स्पष्ट है, और ऋग्वेद (३। १६। २-३) में, तथा छान्दोग्य (३। १७। ६) में, तथा तैत्तिरीयशाखा (१०। १। ६) में, एवं ऋक्परिशिष्ट में अन्यन्त्र भी भगवान् की समस्त लीलाओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जो विस्तार भयसे यहां उद्धृत नहीं किया जा सकता, पते के अनुसार मूल ग्रन्थों में अवलोकन कीजिए।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी सच्चिदानन्द परमामा के षोडश कलापूर्ण अवतार थे, यह वेद प्रमाणों द्वारा निश्चित हो चुका

गोप गोपियें कौन थीं—यह भी जान लेना आवश्यक है, श्रीमद्भागवत में लिखा है कि—

(क) वसुदेव गृहे साक्षाद्भगवान्पुरुषः परः ।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं संभवन्तु सुरस्त्रियः। (७०।१।२२)

(ख) भवद्भिरंशैर्यदुषूपजायताम् (१०।१।२३)

(ग) गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः ।
(१०।१८।११)

अर्थात्—(विष्णुभगवान् की आज्ञानुसार ब्रह्माजी ने देवताओं को समझाया कि परम-पुरुष परमात्मा वसुदेवजी के घर में अवतीर्ण होंगे, भगवान् को प्रसन्न करने के लिये तुम अंश रूप से यदुवंश में उत्पन्न होवो, और समस्त देवांगनाएं भी अवतीर्ण होवें! गोपलोग गोपाल वेश में छुपे हुए देवता थे ।

उपर्युक्त प्रमाणानुसार भगवान् के सखागण तथा गोपियें-सभीं मानवशरीर में छुपे हुवे देवविशेष थे । देवता कैसे होते हैं सो वेद भगवान् कहते हैं–

(क) देवा महिमानः । (यजुः ३१ ।१६)

(ख) देवगृहा वै नक्षत्राणि । (तै० १ । ३ । ३ । २-३)

(ग) अपहतपात्मानो देवाः । (शत० २ । १ ।३ । ४)

(घ) आनन्दात्मानो ह वै सर्वे देवाः (शत० १०।३।५।१३)

(ङ) यद्‌किंचिद्‌ देवाः कुर्वते स्तोमेनैव तत्कुर्वते ।

(शतपथ ८ । ४। ३ ।२)

(च) तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः । (शत० ३।१।१।८)

(छ) अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः(अथर्व ४।३४।२)

अर्थात्—देवता महिमा वाले होते हैं ! नक्षत्रों में उनके घर होते हैं। वे सर्वथा पापरहित होते हैं ! और आनन्दात्मा होते हैं। वे जो कुछ करते हैं सो अपनी शक्ति से करते हैं। वे मनुष्यों से भिन्न होते हैं। तथा दिव्य-देह-संपन्न, स्वच्छ एवं पवित्र होते हैं।

अब प्रकृत प्रसंग सुनिये। भगवान् की रासक्रीड़ा के समय अन्यून ८ वर्ष की आयु थी, जैसा कि श्रीमद्‌भागवत (१०।१४।५६) में ब्रह्म-वत्स-हरण के बाद की लीलाओं को "पौगंड" (५—१० वर्ष) वयः की बताया है, और गोवर्द्धन उठाने के समय (१०।२६।१४) में–"क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम्" अर्थात्—कहां सात वर्ष का बालक और कहां भारी पर्वत का उठाना ऐसा कहा है। गोवर्धन लीला के अनन्तर आने वाली शरद् ऋतु में रासलीला हुई थी, अतः भगवान् आठ वर्ष के थे, यह निर्विवाद है। श्री वेदव्यास जी ने रास पंचाध्यायी में स्थान-स्थान पर रासक्रीड़ा की पवित्रता का उल्लेख किया है। प्रतीत होता है, आपने रासक्रीड़ा के पूर्वापर का निरीक्षण नहीं किया, केवल एक श्लोक के आधार पर संदेहोत्पादन कर लिया है, सुनिये रासपंचाध्यायी का आरम्भ इस प्रकार होता है—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्ल-मल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तु मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।
(१०।२९।१)

अर्थात्—भगवान् ने शरद् ऋतु की विकसित मल्लिका वाली रात्रियों को जानकर अपनी योगमाया के आश्रय से क्रीड़ा करने का विचार किया ।

इस पर श्रीधर स्वामी लिखते हैं कि—**"ननु विपरीत-मिदं परदारविनोदेन कन्दर्पविजेतृत्वप्रतीतिः मैवं "योग-मायामुपाश्रितः (१०।२९।१)" आत्मारामोप्यरीर-मत् (१०।२९।४२) "साक्षान्मन्मथमन्मथः (१०।३२।२)" आत्मन्यवरुद्धसौरतः। (१०।३३।२६) इत्यादिषु स्वातन्त्र्याभिधानात्, तस्माद्रासक्रीड़ाविड-म्बनं कामविजयाख्यापनायेत्येव तत्त्वं, किंच श्रृङ्गार-कथोपदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरेयं पंचाध्यायीति व्यक्तीकरिष्यामः ।"**

अर्थात्—दूसरे की स्त्रियों के साथ विनोद करके कामदेव का विजय करना यह भी विपरीत है, यदि कोई इस प्रकार की शंका करे तो ठीक नहीं क्योंकि भगवान् ने अपने से भिन्न किसी से भी विनोद नहीं किया, बल्कि अपनी योगमाया के आश्रय से अपनी ही आत्मा से कामदेव के अभिमान को चूर्ण करते हुवे अपने आप में ही विनोद किया है। क्योंकि उनके "कर्तुमकर्तुमन्यथा-

कर्तुम्" का आदर्श है। इसलिए रासक्रीड़ा भगवान् के काम विजय की द्योतक है यही इसका तत्त्व है, यह रास पंचाध्यायी शृङ्गार रस के बहाने सर्वथा निवृत्ति परक है जैसा कि हम अपनी टीका में स्पष्ट करेंगे।"

भगवान् ने बाँसुरी बजाई गोपी वेश में छुपी हुई उच्चतम देवात्मा संपन्न गोपियें घर के काम काज ज्यों के त्यों छोड़कर उनके निकट पहुंची। भगवान् ने उनके विशुद्ध भाव की परीक्षा के लिये "भर्तुः सुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया" (१६।२६। २४—२७) इत्यादि वचनों से स्त्रीधर्म्म का उपदेश देकर वापिस लौट जाने को कहा। जिसके उत्तर में गोपियें बोलीं कि—

(क) संत्यज्य सर्वं विषयांस्तवपादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुर्वग्रह मा त्यजास्मा-
न्देवो यथादिपुरुषो भज ते मुमुक्षून्॥

(ख) प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा।

(१०।२६।३१।३२)

अर्थात्—हे भगवन्! हम तो कामादि सब विषयों को छोड़ कर आपके चरण शरण में आने वाली भक्ता हैं, जिस प्रकार मुमुक्षु जनों को आदिपुरुष शरण में रखता है इसी प्रकार आप भी हमें शरण में लीजिये। आप तो प्राणिमात्र के आत्मा हो अतएव सबके प्यारे बन्धु हो।

इस प्रकार भगवान् ने गोपियों का विशुद्ध भाव तथा रास-क्रीड़ा कामना जानकर अपनी योगमाया से उनके दो २ स्वरूप

बनाए। उनमें से पहिला—जोकि पांचभौतिक स्थूल शरीर स्वरूप था उसे तो घर पहुंचा दिया, जिससे गोप ग्वालों में अपनी २ माता पत्नी आदि को घर में न देखकर बेचैनी न हो। और जो दूसरे—भगवान् की योगमाया द्वारा निर्मित हुवे दिव्य शरीर थे वे वन में रहे, इसके बाद जो भी विशुद्ध क्रीड़ा हुई है वह भगवान् के अपने योगमाया निर्मित स्वरूपों के साथ हुई है, व्यासजी ने श्रीमद्भागवत में इस रहस्य को स्वयं स्पष्ट किया है। यथा—

(क) नासूयन्खलु कृष्णाय मोहितस्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान्व्रजौकसः ॥
(१०।३०।३८)

(ख) रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥ (१०।३३।१७)

(ग) कृत्वा तावन्त आत्मानं यावतीर्व्रजयोषितः ॥
(१०।३३।२०)

(घ) पुरुषः शक्तिभिर्यथा। (१०।३२।१०)

अर्थात्—मायामुग्धगोप भगवान् के रासक्रीड़ानुरूप गुण में कोई दोषारोपण नहीं कर सके, क्योंकि भगवान् ने योगमाया से गोपियों के साधारण स्वरूपों को उनके पास पहुंचा दिया, जिससे उन्होंने अपनी अपनी कुटुम्बनियों को अपने पास समझा। इधर दूसरे दिव्य स्वरूपों के साथ रास क्रीड़न किया। जिस प्रकार बालक अपनी ही परछाईं के साथ खेल किया करता है। भग-

वान् ने अपने उतने ही रूप बनाए जितनी कि गोपियें थीं। जिस प्रकार पुरुष (परमात्मा) अपनी शक्तियों से क्रीड़न किया करता है।

भगवान् का अपने ही रूप को भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट करके रास रमण करना यह एक वैदिक रहस्य है। यथा--

(क) तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् ।

(बृहदा० १।४।३)

(ख) सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति ।

(तैत्तिरीय ब्रह्मबल्ली अनु० ६)

(ग) ततो वपूंषि कृणुते पुरूणि । (अथर्व—५।१।२)

अर्थात्—(क) वह (परमात्मा) इससे एकला प्रसन्न नहीं होता, उसने दूसरे की इच्छा की।

(ख) (दयानन्दार्थ--सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २२०) वही परमात्मा अपनी इच्छा से बहुरूप हो गया।

(ग) तब परमात्मा अपने अनेक रूप बनाता है।

इस प्रकार विश्चित हुआ कि भगवान् ने अपने ही प्रतिबिम्ब स्वरूप देवात्मा संपन्न गोपियों से जो रासक्रीड़न किया था, वह परमात्मा की एक विशुद्ध वैदिकी लीला है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि एक श्रीकृष्ण का बहुत से रूपों में प्रकट होना कैसे सुसंभव हो सकता है सो तो वेद भगवान् स्वयं कहते हैं—

अग्ने सहस्राक्षशतमूर्द्धं शतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः ।

(यजुः १७।७१)

(दयानन्द भावार्थ) "जो योगी पुरुष तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान आदि योग के साधनों से योग के बल को प्राप्त हो और अनेक प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके अनेक शिर नेत्र आदि अंगों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है।"

योगदर्शन के विभूति पाद में भी इसका समर्थन किया गया है। अतः यदि साधारण योगी सहस्रों रूप बना सकता है तब साक्षात् परमात्मा के अवतार का तो कहना ही क्या है?

यहां तक हमने श्रीमद्भागवत वर्णित रासक्रीड़न का वेदों से समन्वय करते हुवे यह यह सिद्ध किया है कि---भगवान् ने किसी भी परस्त्री का स्पर्श तक नहीं किया किन्तु श्रीमद्भागवत के शब्दों में अपनी योगमाया द्वारा उद्भावित देवात्मासम्पन्न अपने ही अनेक रूपों से क्रीड़न किया है। यह तो हुआ, आपके "परस्त्री" शब्द का विवेचन। अब "गमन" शब्द का उत्तर भी सुनिये।

आपने रासक्रीड़ा की विशुद्ध लीला को "परस्त्री गमन" शब्द द्वारा व्यक्त करने का अनधिकार साहस किया है। क्या आप रासपंचाध्यायी में "मैथुन" "याभ" आदि स्त्री-संग द्योतक शब्द दिखा सकते हैं? यदि नहीं तो फिर क्रीड़ावाचक "रमु" धातु के प्रयोगों का अर्थ स्त्रीसंग कैसे समझा? हमारे पूर्वोक्त[1] वेद प्रमाण में परमात्मा का "रमण" आता है, तथा आर्याभिविनय के "सोमं रारन्धिनो" (ऋ० १।६।२१।१३) मंत्र में दयानन्द ने परमात्मा से "हमारे हृदय में रमण कीजिये" ऐसी प्रार्थना

टि० (१) "एकाकी न रमते" पृ० ९७।

की है, क्या यहां भी स्त्रीसंग ही अर्थ कीजियेगा ? इसलिये आपके प्रथम प्रश्न का आधारभूत जो श्लोक है उसमें न "परस्त्री" की गंध है, और नाहीं "गमन" का पता है, किन्तु भगवान् के अपने ही योग मायाश्रित स्वरूपों से विशुद्ध आत्म-रमण है जोकि वेद का एक रहस्य है, वह भी बालक्रीड़न की भाँति एक लीला विनोद मात्र है ।

यदि आप वेदानुमोदित श्रीमद्भागवत वर्णन के अनुसार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी को परमात्मा मान लें तबतो उनका असली गोपियों को घर पहुंचा देना और अपने ही अनेक रूप बनाकर आपही रासक्रीड़ा करना दोषास्पद नहीं हो सकता ! और यदि उन्हें साधारण योगी समझते हो तब भी दयानन्दानुमोदित वेद प्रमाण के अनुसार उतका अनेक रूपों में प्रकट होकर लीलाभिनय करना निर्दोष है । योगशास्त्र में कहा है कि–

[क] ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिंद्रियजयः ।

(योग० वि० ४७)

[ख] ततो मनोजवित्वं विकारभावः प्रधानजयश्च ॥

(योग० वि० ४८)

अर्थात्—ग्रहणादि में संयम करने से इन्द्रियों का जय होता है । और उससे मनोजवित्व विकरणभाव और प्रधान जय (विकार भाव मात्र पर अपना अधिकाररूप "मधुप्रतीका" नाम सिद्धि प्राप्त होती हैं ।

उक्त सिद्धियों के आधार पर ही आद्यशंकराचार्य जी ने अमरूराजा के मृत-शरीर में प्रविष्ट होकर एक वर्ष पर्यन्त तीसरे

पदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया था। अतः भगवान् को योगी स्वीकार करने पर भी यह चरित्र सर्वथा पवित्र ठहरता है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई पुरुषपुंगव शास्त्र सिद्धान्त के विरुद्ध भगवान् को साधारण बालक ही समझे, तब भी आठ वर्ष की आयु वाले बालक पर "परस्त्रीगमन" दोष लगाना न केवल हास्यास्पद हो सकता है अपितु मूर्खता का परिचायक भी होगा। इस प्रकार "दुर्जन-तोष" न्याय से भगवान् को परमात्मा का अवतार, योगी, या साधारण बालक-जो भी माना जावे उसी रूप से रासक्रीड़न लीला की विशुद्धता सिद्ध होगी।

अब हम आपके परीक्षित प्रश्न के आक्षेप पर विचार करते हैं। पूर्व लेखानुसार यह तो निश्चित हो चुका कि रासक्रीड़ा में भगवान् ने अपने ही योगमायाश्रित गोपी स्वरूपों से खेल किया है। परीक्षित पूछते हैं कि "भगवान् का अवतार धर्मस्थापन और अधर्म नाश के लिए हुवा है परन्तु रासक्रीड़ा का धर्मस्थापन और अधर्मनाशरूप अवतार कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, अर्थात्-यह केवल क्रीड़ा विनोदमात्र है! सो आप्तकाम=पूर्ण-काम" परमात्मा को अपने अनेक रूप बनाकर खेल करने की क्या आवश्यकता थी? विनोदमात्र के लिए भगवान् का "परदा-राभिमर्शन"[1]=(परस्य परमात्मनो दारा रूपिण्यो या माया-शक्तयस्तासामाभिमर्शनं बलादाश्रयणम्, इतिबृहद्भक्ततोषिणी-टीकाकारः) आप्तकामता के "प्रतीप"=प्रतिकूल है इसका

टि० (1) मायाश्रयण,

क्या अभिप्राय है" परीक्षित के प्रश्न का सार यह है कि रास लीला भगवान् का बाल विनोद है परन्तु "आप्तकाम" को विनोदार्थ मायाश्रयण की क्या आवश्यकता थी ? यदि धर्म स्थापन और अधर्म नाशन के लिये मायाश्रयण किया जाता तो वह तो उनके अवतार-धर्म के अनुरूप होता, परन्तु खेल कूद के लिए अपने अनेक योगमायाश्रित रूप बनाने का क्या अभिप्राय ? इस प्रश्न के उत्तर में शुकदेव जी ने समझाया कि "भगवान् का विनोदमात्र के लिये योगमायाश्रयण करना, धर्मस्थापन और अधर्म नाशन रूप अवतार-धर्म का व्यतिक्रम अवश्य है परन्तु ईश्वरावतारों का केवल क्रीड़ार्थ भी ऐसा करना देखा गया है जो दोषास्पद नहीं, क्योंकि—

(क) यत्पाद-पंकजपराग-निषेवतृप्ता,
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबंधाः ।
स्वैरं चरंति मुनयोऽपि न नह्यमाना
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥

(ख) गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥

(श्रीमद् भागवत १०।३३।३५-३६)

अर्थ (पं० रूपनारायण पाँडेय कृत) जिनके पाद पद्म पराग के सेवन से तृप्त भक्तजन और योग के प्रभाव से कर्म वंधनमुक्त ज्ञानी मुनिजन स्वच्छन्द होकर विचरते हैं—अर्थात् आवागमन से मुक्त हो जाते हैं, उन अपनी ही इच्छा से शरीर धारण करनेवाला ईश्वर को पाप या पुण्य का बन्धन कैसे हो सकता

है। जो परमात्मा गोपियों के, गोपियों के पतियों के एवं सब देहधारियों के, अन्तकरण में विराजमान हैं वही बुद्धि आदि के साक्षी कृष्णचन्द्र योगमायाश्रयण से रासक्रीड़ा में अनेक स्वरूप-धारी हुवे।

वेद में—"पूर्णकाम" परमात्मा को मायाश्रयण से सृष्टि की उत्पत्ति, पालन, और संहार आदि करने की क्या आवश्यकता है? और इस सृष्टि उत्पादन-विनाशन रूप "पूर्णकामता" विरुद्ध ईश्वरेच्छा का क्या अभिप्राय है?–इसका उत्तर इस प्रकार दिया है:—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते···स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च। (श्वेताश्वतर ६। ८)

अर्थात्—सृष्टि उत्पादन, विनाशन आदि करने में ईश्वर का कोई खास प्रयोजन नहीं है किन्तु यह उसकी स्वाभाविक क्रिया है।

यहां (वेद में) यही उत्तर दिया गया है कि ईश्वर का स्वाभाविक कार्य "पूर्णकामता" का बाधक नहीं हो सकता, श्रीमद्भागवत में भी परीक्षित का यही प्रश्न था कि भगवान् को "आप्त काम" होते हुवे भी योग माय़ाश्रयण से अनेक रूप बनाकर खेल करने की क्या आवश्यकता थी? जिसका वेदानुमोदित यही उत्तर दिया गया है कि ईश्वरावतारों का विनोदार्थ मायाश्रयण करना स्वाभाविक है अतएव वह "पूर्ण कामता" का बाधक नहीं हो सकता। जिस प्रकार परमात्मा के लिये स्वेच्छा से उत्पादित—सृष्टि के स्थिति लयादि बन्धन के कारण नहीं, इसी प्रकार तदवतारों के लिये स्वेच्छा से किये हुवे

क्रीड़नादि भी बन्धन नहीं हो सकते। यही बात हमने आरंभ में आपके पेश किसे हुवे "स पर्यगात्" मन्त्र की व्याख्या में "स्वयम्भु" आदि शब्द से सिद्ध कर दिखाई है।

अतः परिक्षित और शुकदेव जी के प्रश्नोत्तर से "परस्त्री-गमन" की ध्वनि निकालना सर्वथा हास्यास्पद है। क्योंकि जब मूल लीला में ही इसकी गंध तक न हो फिर परीक्षित जी मूल कथाके विरुद्ध कैसे प्रश्न कर बैठते ? अतः उनका प्रश्न—"आप्त काम" को मायाश्रयण की क्या आवश्यकता ? एतावन्मात्र है। और ईश्वरावतारों का स्वाभाविक मायाश्रयण अप्तकामता का बाधक नहीं—यही उत्तर है। समस्त प्रसंग को पढ़ कर समझिये। अन्त में इस लीला के कीर्तन श्रवणादि का फल बताते हुए व्यास जी लिखते हैं कि—

भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं,
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः।

(भाग १० । १३ । ४०)

अर्थात्—जो इस रासक्रीड़ा का श्रवण मनन कीर्तन करेगा वह धीर परमात्मा की उत्कृष्ट भक्ति को प्राप्त होकर काम आदि हृदय रोगों से मुक्त हो जायगा !

अब आप ही विचारें कि आप का प्रश्न किस प्रकार हास्या-स्पद है। आपको प्रश्न करने से पूर्व यह भी तो सोचना चाहिये था कि शुकदेव जी जैसे जीवन मुक्त ब्रह्मज्ञानी वक्ता के मुख से—मृत्यु से भयभीत होकर, परीक्षित जैसे श्रोता के प्रति "परस्त्रीगमन" का कहना सुनना कहां तक संभव हो सकता है ? और यदि वास्तविक गोपियों के साथ रासक्रीड़ा की होती तो रात भर अपनी २ स्त्रियों को घर न पाकर गोप लोग घर

में पड़े रहते ? वे लोग बिलखते हुए बालकों से व्याकुल होकर कुछ कदम की दूरी पर होते हुए इस रास में न पहुंचते !!! और यदि भगवान् ने इस लीला में थोड़ा भी अधर्माचरण किया हो तो क्या युधिष्ठिर के यज्ञ में भगवान् की प्रथम पूजा से बिगड़ कर बेरोकटोक सौ गाली सुनाता हुआ शिशुपाल इसे बिना कहे बाज आ जाता ! महाभारत पढ़िये वहां गोप ग्वाला, माखन चोर के सिवाय "परस्त्रीगमन" का नाम तक नहीं अतः रास-लीला लीला में परस्त्रीगमन ढूंढना अपने संकीर्ण, कलिकल्मष कलुषित हृदय का परिचय देना है।

"कृष्णो भूत्वा" आदि श्लोक का पूर्वापर प्रसंग पढ़िये तब मालूम होगा कि यह किसने किस अभिप्राय से कहा है। इसमें भगवान् की व्याजस्तुति अभिप्रेत है। जिसका तात्पर्य यही है कि श्रीविष्णु जी ने कृष्णावतार में "कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च नि-र्वृतिवाचकः" के अनुसार स्वभावतः अज्ञान वाली स्त्रियों को भी निवृत्तिमार्ग में लगा कर (कुलधर्मतः)=स्त्री कुलोचित घरेलू झंझटों से छुड़ा दिया। वेद सम्मत आठ प्रकार के आर्षादि विवाहों के अनुसार ही भगवान् के विवाह हुए हैं। शाप को वरदान बनाना, शत्रूक्ति को मित्रोक्ति दिखाना तथा प्रसङ्ग विरुद्ध बायें दायें झांकना, और चालाकी से काम निकालना सर्वथा अनुचित है। भागवत पर प्रश्न की प्रतिज्ञा करके इधर उधर दौड़ना "प्रतिज्ञा संन्यास" निग्रह स्थान में फंसना है।

मदनमोदक सम्बन्धी "कामरत्न" का प्रश्न अप्रासङ्गिक है, यह पुराण ग्रन्थ नहीं है जो इस का उत्तरदातृत्व हम पर आ सके। सैंकड़ों चूरण बेचने वाले अपने चूरण की प्रशंसा में लटका कहा करते हैं कि:—

मेरा चूरण है पंचरंगी। जिसको खाते लाट फिरंगी।

क्या इसका उत्तरदातृत्व योरपीनों पर आ सकता है। इसी प्रकार यह भी किसी वैद्य ने अपने पाक की प्रशंसा में नियोगी महाशयों की अभिरुचि बढ़ाने के लिये घड़ा होगा।

आगे चलकर आपने गीताके श्लोक उतार कर चार पृष्ठों का कलेवर पूरा किया है। यह सब श्लोक भगवान् के मुख से उनके शुद्ध चरित्र होने की साक्षी देते हैं, अतः सभी हमारे अनुकूल हैं। वस्तुतः भगवान् ने आयु भर में कोई भी अनुचित कार्य नहीं किया, वेद, भागवत और गीता तथा अन्यान्य सभी पुराण एक स्वर से यही पुकारते हैं। श्री स्वामी रामानुजाचार्य का जो भाष्य आपने उद्धृत किया है वह तो और भी सोने पर सुहागा है, क्योंकि वह प्रतिपद पर भगवान् के विशुद्ध चारित्र्य की दुन्दुभि बजाता है। आपको यह तो विदित ही होगा कि उक्त आचार्य जिस वैष्णव सम्प्रदाय के उद्धारक थे "श्रीमद्भावत उस सम्प्रदायका प्राणभूत ग्रन्थ हैं। अतः भगवान् ने गीता में जो उपदेश दिया है श्रीमद्भागवत में तदनुकूल आचरण करके "मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्" का आदर्श उपस्थित किया है और यह उन्होंने अपने विशुद्ध कुल के अनुरूप ही किया है। भगवान् साक्षात् परमात्मा थे, उनके दर्शन से काम क्रोध सभी दूर हो जाते थे। उनके दर्शन मात्र करते ही गोपियों ने स्पष्ट कह दिया कि—

"संत्यज्य सर्वविषयान्" (१०। २९। ३१)

अर्थात्—हमने सब विषयों को लात मार दी हैं। तथा

"न खलु गोपिकानन्दनो भवान्
निखिलदेहिनामन्तरात्मधृक्" (१०। ३१। ४)

अर्थात्—आप साधारण गोपी के पुत्र नहीं हो बल्कि समस्त प्राणियों के साक्षी स्वरूप अन्तरात्मा के नियामक हो, यह उनके दर्शन का ही प्रभाव था।

हमने आपके प्रथम प्रश्न का विस्तृत उत्तर देदिया है, जिसमें हर एक दृष्टिकोण से आपको सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया है। और वेद-मन्त्रों से न केवल रासलीला को अपितु प्रसङ्गोपात्त प्रत्येक वर्णन को समन्वित किया है, अतएव यह लीला वैदिक रहस्य का समुज्ज्वल दृष्टान्त है। आपने इस प्रश्न की प्रतिज्ञा में "चोरी" दोष भी लिया था, परन्तु नौ पृष्ठ काले करने पर भी इसका कोई प्रमाण नहीं दिया। अस्तु, वृद्धावस्था में प्रतिज्ञा विस्मरण स्वाभाविक हो जाता है। अतः निग्रह स्थान में फंसते हुवे भी आप क्षमापात्र हो।

हमारे इस उत्तर को पढ़कर यदि आप को कोई नया प्रश्न सूझेगा तो उसका उत्तर ध्यान पूर्वक पढ़ने से हमारे इसी उत्तर में मिल सकेगा।

२—द्वितीय प्रश्न का उत्तर।

आपके द्वितीय प्रश्न का सार यह है कि देवी भागवत के अनुसार भृगुशाप से शिवजी के लिङ्ग का पतन हो गया, अतः वह उपासना के काम के न रहे। और लिङ्ग शब्द का अर्थ आपने "मूत्रेन्द्रिय" समझा है—यही आप के प्रश्न का सार है। जिस पुराण के आधार पर आप प्रश्न कर रहे हैं उस पुराण में ऋषि-पत्नियों के मध्य में शिवभगवान् का नग्नावस्था में जाना आदि समस्त कथा नहीं लिखी है केवल संकेत मात्र किया है। जिसे पढ़ कर आपको संदेहाभास हो गया है। यदि आप शिव

पुराण (धर्मसंहिता-अध्याय १० के ७९ वें श्लोक से २३३ वें श्लोक तक) पढ़ लेते तो प्रश्न करने का कष्ट न उठाना पढ़ता। अस्तु, हम आरंभ से इस कथा को लिखते हैं। शिव पुराण में लिखा है कि—

इदं दृश्यं यदा नासीत्सदसदात्मकं च यत्।
तदा ब्रह्ममयं तेजो व्याप्तिरूपं च संततम् ॥१॥
न स्थूलं न च सूक्ष्मं च शीतं नोष्णं तु पुत्रक ॥
आद्यन्तरहितं दिव्यं सत्यं ज्ञानमनन्तकम् ॥१६॥
योगिनोंतर दृष्ट्याहि यद्ध्यायन्ति निरन्तरम् ॥१३॥
कियता चैव कालेन तस्येच्छा समपद्यत ॥१८॥
प्रकृतिर्नाम सा प्रोक्ता मूलकारणमित्युतः ॥
ज्योतिर्लिङ्गं तदोत्पन्नमावयोर्मध्यमद्भुतम् ॥
ज्वालामालसहस्राढ्यं कालानलचयोपमम् ॥६३॥
आदिमध्यान्तवर्जितम्......(शिव० पु० अध्याय २)

अर्थात्—यह स्थूल दृश्य जगत् जब उत्पन्न नहीं हुवा था, उस समय महाप्रलय के अन्त में सब सत् असत् कुछ भी नहीं था, अर्थात्-कुछ है वा नहीं ऐसा नहीं कहा व माना जा सकता था। उस काम में निरंतर व्याप्तिरूप ब्रह्ममय तेज उत्पन्न हुआ, वह ब्रह्मतेज स्थूल; सूक्ष्म, शीत, उष्ण कुछ भी नहीं था, उस अलौकिक तेज का आदि अन्त कुछ भी नहीं था। वह "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" था। जिसे योगी लोग समाधि में ध्यान किया करते है। कुछ काल के बाद उसमें इच्छा हुई, वही मूल कारण

प्रकृति कहलाती है, तब जाज्वल्यमान तेजोमय कालानल के समान "ज्योतिर्लिङ्ग" उत्पन्न हुआ। जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं था।

यही वर्णन ज्यों का त्यों वेद में आता है। यथा—

(क) नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं, नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।

(ऋ० अ० ७ व० ७ मं० १)

(ख) सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तीर्यक्च न मध्ये परिजग्रभत्॥

(यजुः ३२।२।)

अर्थात्—एक समय वह था जब कि सत् असत् स्थूल सूक्ष्म द्यावाभूमि कुछ भी नहीं थी फिर विद्युत् पुरुष="ज्योतिर्लिङ्ग" से सब कुछ बना, जिस ज्योतिर्लिङ्ग का ऊपर नीचे तिर्छे मध्य किसी ओर से भी पार नहीं था।

यहाँ तक यह निश्चत हुवा कि सृष्टि के आरंभ में जो ब्रह्माण्डरूप आग्नेय वाष्मयस्तंभ होता है वही शिवपुराण का अभिमत ज्योतिर्लिङ्ग है। लिङ्ग शब्द का निर्वचन करते हुवे व्यास जी स्वयं लिखते हैं कि—

(क) लीनार्थगमकं चिह्नं लिङ्गमित्यभिधीयते।

(शि० पु० विद्येश्वरी संहिता॥ १६।१०६)

(ख) भं-वृद्धिं गच्छतीत्यर्थाद् भगः प्रकृतिरुच्यते।
मुख्यो भगस्तु प्रकृतिर्भगवांच्छिव उच्यते।

(शि० पु० वि० १६।१०१-१०२)

अर्थात्—अव्यक्तावस्थापन्न ब्रह्म को व्यक्त करने वाले ब्रह्माण्डरूप आग्नेयस्तंभ को "लिङ्ग" कहते हैं। और (भ)= वृद्धि को (ग)=प्राप्त होने वाली प्रकृति को "भग" कहते हैं सो ब्रह्माण्ड की मुख्य कारणभूत प्रकृति ही भग है, और उस प्रकृति के अधिष्ठता शिव=ब्रह्म ही भगवान् हैं।

अब विचार करना होगा कि शिवपुराण के वर्णनानुसार "लिङ्ग" उत्पत्ति का जो समय वर्णन किया गया है उस समय मनुष्यादि प्राणियों का तो कथन ही क्या है—स्थूल जगत् का भी पता न था। इससे निश्चित हुवा कि यहां भृगु ऋषि ऋषि-पत्नी आदि सभी सृष्टि के आरंभिक पदार्थ विशेष थे। जिन्हें आर्य ग्रन्थों में आकर्षण, विकर्षण के नाम से पुकारा है। यथा:—

[क] वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः। (गो० पू० २।८)
[ख] तस्य प्रजापते रेतसोद्वितीयमासीत्तद् भृगुरभवत्। (ऐतरेय ३।३४)

अर्थात्—(क) वायु, कारण जल और चन्द्रमा को भृगु कहते हैं। (ख) उस प्रजापति की जो दूसरी (विकर्षण) शक्ति थी वही भृगु है।

बस उसी आकर्षण विकर्षण के तारतम्य से वह ज्योतिर्मयस्तंभ फटकर द्यावाभूमि नामक दो भागों में विभक्त हो गया, यही लिङ्ग के टूटने का अभिप्राय है। जैसा कि वेद भगवान् कहते हैं:-

स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत् (बृहदा० १।४।३)

अर्थात्—उस परमात्मा ने अपने इस ब्रह्माण्डरूप आत्मा को द्यावा भूमि रूप दो टुकड़ों में गिराया। मनुप्रथमाध्याय में

यह वर्णन "द्विधा कृत्वात्मनो देहं" कह कर स्पष्ट किया गया है।

अब आप समझ गये होंगे कि वेद और पुराणों में "लिङ्ग" नाम मूत्रेन्द्रिय का है अथवा अव्यक्त ब्रह्म के व्यक्त रूप का। संप्रति देवी-भागवत के "शंभोः पपात" आदि श्लोक को तथा उसकी टीका को लगाइये, इसका सीधा अर्थ यही होगा कि:—

(यस्य) जिस (शंभोः) कल्याणकारीअव्यक्त ब्रह्मका (लिङ्गं) व्यक्तरूप ब्रह्माण्ड (सतीवियोगात्) प्रकृति के विशेष योग से (भृगोः शापात्) आकर्षण विकर्षण के तारतम्य से (पपात) द्यावा भूमिका रूप दो टूक होगया। सो जो मनुष्य उस (कपालिनं) कपाल-द्वय-संपन्न को भजते हैं उन्हें यहाँ मृत्यु लोक में और परत्र स्वर्गादि में कैसे सुख मिल सकता है? अपितु वे तो स्वर्गादि सब लोकों से ऊंचे मुक्ति पद के अधिकारी हो जाते हैं। यही इस श्लोक का काकु भाव है।

अब आप यदि वेदानुमोदित भगवान् के इस चरित्र में उन्हें सर्वान्तर्यामी परमात्मारूप मानें तब तो शिवपुराणके वर्णनानुसार यह सृष्ट्युत्पत्ति विधायक एक **वैदिक** गाथा का विज्ञानमय रहस्य है। अतः शङ्का का स्थान नहीं रहता। और यदि "दुर्जन तोष" न्याय से उन्हें एक साधारण परमहंस योगी भी मान लिया जावे, तब भी कोई दोष नहीं आता क्योंकि ऋषि पत्नियों में दिगंबर चले जाने के अतिरिक्त इस कथा में एक भी ऐसा शब्द नहीं जिससे कि भगवान् का विकारयुक्त होना पाया जावे। अब भी सैंकड़ों ऊंची वृत्ति वाले साधु दिगंबर रहते हैं। रहा भृग्वादिक का क्रुद्ध होना सो शिव को न पहिचान कर स्त्रियों में साधारण मनुष्य के दिगंबर होने के भ्रम से हुवा

था, जिसके लिये उन्हें शिव पहिचानने पर पश्चात्ताप करना पड़ा था। क्या आप इस समस्त कथा में कोई एक भी ऐसा शब्द दिखा सकते हैं जिससे भगवान् का विकारयुक्त होना माना जा सके ? यदि नहीं तो फिर किसी कथा का आद्योपान्त पाठ किये बिना ट्रैक्टों के आधार पर प्रश्न कर बैठना क्या पांडित्य का परिचायक हो सकता है ?

आपने आगे चलकर देवी भागवत के "वसिष्ठो वामदेवश्च" आदि श्लोक उद्धृत करके-ब्रह्मादिके शरीर २५ तत्वों से बने हुवे तथा मरणधर्मा होते हैं-इत्यादि संदर्भ से शिवलिङ्ग वाली कथा में भगवान् शिव का शरीरधारी होना सिद्ध करना चाहा है, परन्तु थोड़े से अविचार से आपको इतना प्रयास करना पड़ा। सनातनधर्मी कब कहते हैं कि ब्रह्मादि शरीर धारी नहीं वे तो महा शरोर धारी हैं, परन्तु आपने शरीर से जो तात्पर्य समझा है वह भ्रम है, इन ब्रह्मादि के किस प्रकार के शरीर होते हैं सो वेद भगवान् कहते हैं।

यस्य पृथिवी शरीरम् । यस्यापः शरीरम् ।
यस्याग्निः शरीरम् । यस्य वायुः शरीरम् ।
यस्याकाशः शरीरम् (शतपथ १४ । ६ । ७ ।६)

अर्थात्—जिस परमात्मा का पृथ्वी शरीर है (वह पृथ्वी देवी है) जिसका जल शरीर है (वह वरुण देव है) जिसका भौतिक अग्नि शरीर है (वह अग्निदेव है) जिसका वायु शरीर है। (वह वायुदेव है) जिसका आकाश शरीर है। (वह विराट् देव है)

देवता क्या पदार्थ है—यदि यह जानना हो तो "अभिमानि व्यपदेशस्तु..." आदि व्याससूत्रों का पारायण कीजिये।

अतः निश्चित हुवा कि जिस प्रकार जलादि की अभिमानी शक्तियों का नाम वरुण आदि है। इसी प्रकार ब्रह्माण्डाभिमानी महाशक्ति का नाम शिव है, यह ब्रह्माण्ड ही उसका शरीर है, इस प्रकार भगवान् शिव के महाशरीरी होने पर भी आपका क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। ब्रह्माण्ड २५ तत्वों का, विकार-वाला और उत्पत्ति विनाशशाली है यह सभी जानते हैं, परन्तु जिस प्रकार मनुष्यादि शरीर उत्पत्ति विनाशवान् होने पर भी तदभिमानी चेतन आत्मा "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः" है इसी प्रकार नश्वर ब्रह्माण्ड का अभिमानी शिव भी सच्चिदा-नन्द स्वरूप है।

वही ब्रह्मादि जब मनुष्यादि रूप में अवतरित होते हैं तब उनके शरीर मनुष्यादिवत् भी होते हैं यथा-राम कृष्णादि रूप में विष्णु, और दत्तात्रेय हनुमानादि रूप में रुद्र, अवतरित हुवे थे। उक्त देवी भागवत का समस्त संदर्भ उन्हीं अवतार-धारी ब्रह्मादि के देहों को लक्ष्य करके कहा गया है, देहके विकार-सम्पन्न होने पर भी देही अविकारी रहता है। इस कथा में ब्रह्माण्डाभिमानी शिव अभिप्रेत है।

पुराणोक्त "लिङ्ग" शब्द का मूत्रेन्द्रिय अर्थ आज तक किसी ने भी नहीं किया। यदि शिवलिङ्ग, ज्योतिर्लिङ्ग आदि शब्द का पर्याय कहीं भी "मूत्रेन्द्रिय" लिखा दिखा दें तो आप पुरस्कारार्ह हैं। ब्राह्मणोत्पत्ति-मार्तण्ड में भी 'मूत्रेन्द्रिय" शब्द का सर्वथा अभाव है। यदि गुप्त शब्द का अर्थ मूत्र समझ लिया है तब तो एक तिहाई द्विज—गुप्तनामधारी वैश्यों को क्या कहियेगा ?

भगवान् शिवने जो अपनी (मूर्ति) हस्त पदादि विशिष्ट प्रतिकृति की पूजा का निषेध करके अव्यक्त ब्रह्मके व्यक्त रूप=

ब्रह्माण्ड के समान अंडाकार प्रतीक की उपासना का आदेश किया है सो ठीक ही है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्ममें हाथ पांव आदि की कल्पना नहीं हो सकती किन्तु उसके आदिम रूप को अण्डाकार बनाकर ही पूजना चाहिये। विधि वाह्य यज्ञानुष्टान से वंशच्छेदादि हानि वेद सम्मत है।

इस प्रकार हमने वेद प्रमाणों द्वारा प्रत्येक दृष्टिकोण से आप के प्रश्नों का उत्तर दिया है। देवी भागवत या शिव पुराणादि में जो कुछ भी लिखा है वह शब्दों के हेर फेर से वैदिक गाथा का अनुवाद मात्र। अतः ऐसे वेद वर्णित परमात्मा शिवकी उपासना करना प्रत्येक वेदानुयायीका कर्तव्य है। शिवोपासना जनता के लिये परम कल्याणकारक है, केवल एक बार पूजन करने के फल से आप के दयानन्द आप लोगों के हृदयों में स्थान पागए।

आपका इस प्रश्न के सार में यह कहना—कि "लिङ्ग पतन हुवा अतः उपसना के काम के न रहे"—पढ़कर हमें बहुत हंसी आई, क्योंकि "लिङ्ग संयुक्त की ही उपासना हो सकती है"—यह न्याय हमारी समझ में नहीं आया। सम्भव है आपने यह आर्यसमाज के दृष्टिकोण से लिखा हो! क्योंकि आपके यहाँ लिंग पतन होने पर कोई भी सन्मानित नहीं हो सकता, किन्तु उसके लिये "अर्धचन्द्र" का विधान है यह सार्वजनिक प्रवाद है। और आर्यसमाज से निकाले हुवे वृद्ध उपदेशक इस का प्रमाण हैं।

३-तृतीय प्रश्न का उत्तर

आपके तीसरे प्रश्न का अभिप्राय यह है कि "सृष्टि को उत्पन्न करनेवाले महादेव का कामातुर होकर अपनी पुत्री के

पीछे दौड़ना यह उनके ईश्वरत्व के विरुद्ध है" यही आपके इस प्रश्न का सार है, यह वेदानुकूल है—या वेदविरुद्ध—यह पूछना आपको अभीष्ट नहीं, और शास्त्रार्थ करने चले हो "वेदानुकूलता" पर !

इस प्रश्न में "वेद प्रतिकूल" शब्द लिखते हुवे आपके अन्तरात्मा ने ऊंची आवाज से आपको अवश्य टोका है, और आप यह खूब जानते हैं कि वेद में यह (ब्रह्मा दुहिता) कथा पुराणों से भी स्पष्ट शब्दों में लिखी है, अतः सकुचा गए, यह ईश्वरत्वके विरुद्ध है या अनुकूल है ? यह आपकी बुद्धि पर निर्णय नहीं हो सकता प्रश्न तो यह है कि यह कथा वेदानुकूल है या नहीं ? सो आपने अपने पक्ष के विरुद्ध हमारे पक्ष का समर्थन करते हुवे इस कथा को स्वयं "प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम्" इत्यादि वेद ब्राह्मणादि लिखित-कहकर वेदानुकूल सिद्ध कर दिखाया है। अब आपही बतायें कि आप "स्वपक्ष विरुद्ध परपक्ष समर्थक प्रमाण देकर कैसी अच्छी तरहसे निग्रह स्थान की वागुरा में फंस गए हैं कि नहीं ? वास्तव में आपने इस कथा की वैदिकता सिद्ध कर के हमारा हाथ बटाया है, अतएव इसके उपलक्ष में आपका धन्यवाद करते हैं।

यद्यपि आपने वही सिद्ध कर दिखाया जो कि हमने सिद्ध करना था, तथापि हम इस पर प्रकाश डाल देते हैं।

ब्रह्मा के विषय में वेद में लिखा है कि—

(क) प्रजापतिः स्वां दुहितरमधिष्कन् ।

(ऋ. ८।१।२७)

(ख) प्रजापतिः स्वां दुहितरमभिदध्यौ ।

(शतपथ १।७।४।१)

(ग) पिता दुहितुर्गर्भमाधात् (अथर्व ९ । १० । १२)

अर्थात्-प्रजापति ने अपनी पुत्री का पीछा किया। उसे चाहा। उसमें गर्भ धारण किया।

भागवत के "वाचं दुहितरं" आदि श्लोकों में जो कुछ लिखा है वह उक्त वेदमंत्रों का अनुवाद मात्र है। यदि इस में कुछ भेद है तो वह यह है कि जहां वेदों में सम्राट् की तरह निधड़क होकर खुले शब्दों में पिता द्वारा पुत्री में गर्भ धारण लिखा है वहाँ पुराणों में केवल कामना करना ही बताया गया है। अर्थात्—पुराणों में वेद वर्णित गर्भस्थापन को वालिशजनभयावह समझ कर उसे शिष्टशब्दों में शिक्षाप्रद बना कर लिखा गया है।

इस कथा में प्रजापति कौन है यह स्वयं वद में ही स्पष्ट किया है। यथा:—

[क] यो ह्येव सविता स प्रजापतिः।

(शतपथ १२।३।५।१।)

[ख] प्रजापतिर्वै सविता (तांड्य।८।२।१०)

अर्थात्—सूर्य का नाम प्रजापति है।

हम अपनी ओर से अधिक कुछ न लिखते हुवे पंडितवर्य कुमारिल भट्ट के उन शब्दों को उद्घृत करते हैं जो कि उन्होंने वेद पुराण विरोधी नास्तिकों को इस कथा का अर्थ समझाते हुए लिखे थे। यथा—

"प्रजापतिस्तावत्प्रजापालनाधिकाराद् आदित्य एवोच्यते। स च अरुणोदयवेलायां उषसं उद्यन्नभ्यैत्। सा

तदागमनादेवोपजायते इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते।"
(तंत्रवार्तिक १ । ३ । ७)

अर्थात्-प्रजा पालक होने के कारण यहां सूर्य ही प्रजापति है. अरुणोदय (पौफटने) के समय उषा (प्रभातकालीनश्वेतिमा) के पीछे उदित होता है, वह उषा सूर्य से उत्पन्न होती है अतः उसका पुत्रीवत् वर्णन किया है।

श्रीमद्भागवत में भी इस कथा का यही अभिप्राय है, क्यों कि वहां वेदव्यास जी ने स्पष्ट शब्दों में **"इति श्रुतम्"** (३ । १२ । २८) कहकर इसकी वैदिकता बताई है, उषा के पीछे दौड़ते हुए सूर्य को समझाने वाले सूर्य के पुत्र रश्मि गण है, अतएव उनका नाम "मरीचिमुख्याः" बताया गया है। शायद आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं कि मरीचिशब्द किरण शब्द का पर्याय है। इस कथा का भागवत वर्णित उपसंहार पढ़ने से तो सब सन्देह बिलकुल काफूर हो जाता है। वहाँ लिखा है ब्रह्माने पुत्रों के कहने से अपना चोला छोड़ दिया, जो सब दिशाओं में फैल गया। जिसे 'नीहारं यद्विदुस्तमः" (३।१२।३४) अर्थात्—नीहार—कुहरा—धुन्ध कहते हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि उषा के पीछे चलते हुवे सूर्य की किरणों के संयोग से सूर्योदय के समय कुहरा छाजाया करता है, उसे वैज्ञानिक ढंग से बताना ही इस कथा का वास्तविक अभिप्राय है, जो उपसंहार में स्पष्ट कर दिया गया है। और साथ २ पिता पुत्र सम्वाद के बहाने कई लोकोपयोगी बातों का भी वर्णन कर दिया है, जो पुराण शैली की महिमा है।

अब आपके ऐतिहासिक आक्षेप पर भी विचार करते हैं, यद्यपि इस विचार का हमारे शास्त्रार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं

क्योंकि "वैदिकता" मात्र सिद्ध करना ही हमारा पक्ष है, तथापि भविष्य में आप को ऐसा भ्रम न रहे इस लिए कुछ लिख ही देते हैं।

पहिले आपको यह समझना चाहिये कि सनातनधर्म वेदानुसार यह मानता है कि सूर्य, चन्द्र, तारा गण, जल, थल-जो कुछ भी वस्तु जात है, वह सब तत्तत् अभिमानी चेतन देव से अधिष्ठित है, और वह चेतन सत्ता समय २ पर आवश्यकतानुसार कभी अंशांशी भाव से, कभी छायाभाव से, कभी आवेशभाव से मनुष्यादि रूप में अवतीर्ण होती रहती है। यह बात वेद में स्पष्ट लिखी है। यथा—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृजे कविरुशना पश्यता मा॥

(ऋ० अ० ३ अ० ६ व० १५ म० १)

अर्थात्—(ईश्वर कहता है) मैं मनु हुवा और सूर्य तथा कक्षीवान्-ऋषि मैं हूँ। मैं कुत्स और आर्जुनेय को प्रेरित करता हूँ उशना कवि भी मैं हूं, हे मनुष्यो ! तुम मुझे देखो ! (दयानन्द भाष्य में भी ईश्वर का मन्वादि होना स्पष्ट है)

अतः सूर्य-किरणाभिमानी चेतन का सत्ययुग में हिरण्य कशिपु द्वारा तथा द्वापर में देवकी द्वारा बालकों के रूप में उत्पन्न होकर कंस के हाथ से मारा जाना आदि इतिहास सम्बन्धी सब घटनाएं ज्यों कि त्यों रहने पर भी उक्त कथा पर कोई आक्षेप नहीं हो सकता।

देवी भागवत का "शुकदेव व्यास संवाद" आपने व्यर्थ ही लिखा क्योंकि उसमें "ब्रह्मा का पुत्री पर आसक्त होना" मात्र लिखा हैं सो हम स्पष्ट शब्दों में बता चुके हैं, कि वह ब्रह्मा क्या है, और उसकी पुत्री कौन है, फिर बार २ पिष्ट पेषण का तात्पर्य बीस पृष्ठ पूरे करने की टेक के अतिरिक्त और क्या हो सकता है।

हमारे ब्रह्मादि न केवल शरीरधारी, अपितु महा शरीर धारी हैं जैसा कि हमने दूसरे प्रश्न में स्पष्ट कर दिया है, और उनके शरीर अवश्य पच्चीस तत्त्वों से बने हुवे हैं परन्तु हैं वे सूर्य चन्द्र अग्नि जल आदि के अभिमानी वेदानुमोदित नित्य शुद्ध चेतन देव! और समय समय पर विभिन्न रूपों में अवतीर्ण होने वाले परमात्मा के स्वरूप!! वेद भगवान् कहते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु—
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वद—
न्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

(ऋ० १.१६४।४६)

अर्थात् (दयानन्द भावार्थ[1]) जो एक अद्वितीय सत्य ब्रह्म वस्तु है उसी के इन्द्रादि सब नाम हैं।

हम ब्रह्म दुहिता की कथा को क्या-किसी भी वैदिक कथा को उड़ाने का जघन्य कार्य नहीं कर करते, किसी कथा को वैदिक समझते हुवे भी उस पर आक्षेप का साहस करना।

टि०—[1]सत्यार्थ-प्रकाश प्रथम समुल्लास

आर्यसमाज के उपदेशकों का ही काम हो सकता है जो, मनु के "नास्तिको वेदनिन्दकः" के अनुसार सर्वथा हेय है।

श्री पं० कालूराम जी ने जो साकार रूप माना है सो ठीक ही है, हम भी साकार ही कह रहे हैं। सूर्य साकार है या निराकार यह आप समझ लें। रूपकालंकार को यहां अवकाश ही नहीं जब कि यहाँ सूर्य वस्तुतः प्रजापति है और उषा उससे उत्पन्न होने के कारण वास्तविक पुत्री है, तथा मरीचि (किरणें) असल में ही उसके आत्मज हैं।

इस प्रकार हमने वेदानुमोदित इस कथा का वास्तविक भाव आपको बताया है यदि आप वेदानुयायी होने के नाते से (फिर चाहे ११$\frac{4}{3}$१ वेदानुयायी[1] ही क्यों न हों) इसे समझ गये तो हमारा परिश्रम सफल होगा। यह कार्य ईश्वरत्व के अनुकूल है, या प्रतिकूल—यह तो आप स्वयं वेद से ही पूछ लें। किन्तु यह सर्वथा वैदिक है एतावन्मात्र सिद्ध कर देना हमारा कर्तव्य था जिसका पालन कर दिखाया।

यही आपके तीनों प्रश्नों का उत्तर है शीघ्रता के कारण "गच्छतः स्खलनं" के अनुसार होने वाली लेख सम्बन्धी स्वर वर्ण की अशुद्धियों को ठीक करके पढ़े।

भवदीय
प्रतिवादिभयंकर—
माधवाचार्य शास्त्री,

टि–०(1) आर्यसमाज वेद की ग्यारहसौ इकत्तीस शाखाओं में सिर्फ चार शाखाएं नाममात्र को मानता है।

दूसरा शास्त्रार्थ

विषय—"दयानन्द कृत ग्रन्थवेद विरुद्ध हैं
या नहीं"

वादी—महाशय बालकृष्ण शर्मा,

प्रतिवादी—पं० माधवाचार्य शास्त्री ।

प्रश्न १८-६-२७ को मध्याह्नोत्तर ३।। बजे भेजे, उत्तर २३-६-२७ को मध्याह्नोत्तर ३-२५ बजे मिले ।

सनातन धर्म के प्रश्न

श्री सनातनधर्म सभा नैरोबी

१८-६-२७

सेवा में—

श्री पं० बालकृष्ण जी,

आर्यसमाज नैरोबी, जय श्रीकृष्ण

पूर्व निश्चयानुसार तीन प्रश्न भेजे जाते हैं, उत्तरसे कृतार्थ करें ।

आर्यसमाज अपने को वेदानुयायी कहता है स्वा० दयानन्द ने भी स० प्र० पृ० ७२ पं० १४ में लिखा है, कि—

"(प्रश्न) क्या तुम्हारा मत है ? (उत्तर) वेद अर्थात् जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है उसका हम यथावत् करना छोड़ना मानते हैं जिस लिये वेद हमको मान्य है इस लिये हमारा मत वेद है।" इत्यादि।

और सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में भी—

"अब आर्यवर्तीयों के विषय में विशेष कर ग्यारहवें समुल्लास तक लिखा है इन समुल्लासों में जो कि सत्य मत प्रकाशित किया है वह वेदों के होने से मुझको मान्य है',—ऐसी प्रतिज्ञा की है।

आर्यसमाज तथा दयानन्द के मतानुसार वेद संज्ञा केवल "संहिता भाग" मात्र की है, जैसा कि ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के वेद संज्ञाविचार प्रघट्ट में लिखा है—

"अथ कोयं वेदो नाम, मंत्र संहितेत्याह। (प्रश्न) वेद किनका नाम है (उत्तर) मंत्र संहिताओं का।"

इस प्रकार दयानन्द के कथनानुसार "केवल मंत्र संहिता भाग का नाम वेद है, और सत्यार्थप्रकाश तदनुकूल है—यह आर्यसमाज का पक्ष है और "सत्यार्थ प्रकाश सर्वथा वेदविरुद्ध है"—यह सनातन धर्म का पक्ष है। हम जिन हेतुवों से सत्यार्थ प्रकाश को वेद विरुद्ध समझते हैं, क्रमशः उनका उल्लेख करते हैं। आपको अपने मान्य केवल मंत्र संहितात्मक वेद प्रमाणों से ही अपने पक्ष की पुष्टि करनी होगी, क्योंकि शास्त्रार्थ का विषय वेदानुकूलता या वेद प्रतिकूलता है।

हमें यहां आपका ध्यान अपने कर्तव्य की ओर इसलिये दिलाने की आवश्यकता पड़ी है कि शास्त्रार्थों के समय वादी प्रतिवादी प्रायः पक्ष विरुद्ध प्रमाण देकर आरंभ में ही वाद को जल्प या वितण्डा के रूप में बदल दिया करते हैं। जिससे शास्त्रार्थ का कुछ भी फल नहीं निकला करता। इसलिये हम इस शास्त्रार्थ को सफल बनाने के लिये स्वयं विषय के अनुकूल केवल वेद प्रमाणों द्वारा ही सत्यार्थप्रकाश की अवैदिकता सिद्ध करेंगे इसी प्रकार वादी को भी केवल अपने मान्य मंत्रसंहितात्मक वेद के प्रमाणों द्वारा ही हमारे हेतुवों का खंडन और अपने पक्ष का समर्थन करना चाहिये !

हमने सत्यार्थप्रकाश की प्रथमावृत्ति से लेकर उन्नीसवीं आवृत्ति तक की सभी पुस्तकों को एक समान समझकर प्रश्न किये हैं, क्योंकि स्वामी जी ने द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि:—

"जिस समय मैंने यह ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने पठनपाठनमें संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझ को इस भाषाका विशेष ज्ञान नहीं था इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है इसलिये इस ग्रन्थ की भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है। **कहीं कहीं शब्द वाक्य रचना का भेद हुआ है।** सो करना उचित था। क्योंकि इस के भेद-किये बिना भाषा की परिपाटी सुधारनी कठिन थी **परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया।**"

यह स्वामी जी का अन्तिम लेख है इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी को प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश की भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों को छोड़कर शेष किसी विशेष अंशपर कोई आपत्ति नहीं थी। प्रत्येक आवृत्ति में जो परिवर्तन[1] किया गया है यह आर्यसमाजियों की अनधिकार चेष्टा है जिसका उत्तरदातृत्व भी उन्हीं पर है।

सत्यार्थप्रकाशके अतिरिक्त स्वामी जी के अन्यान्य ग्रन्थों के जो प्रमाण उद्धृत किये गये हैं वे पुष्ट्यर्थ हैं।

१—प्रथम प्रश्न।

(क) पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृतायकम्

(अ० १४।१ ४२)

[ख] एना पत्या तन्वं संस्पृशस्व (अथर्व १४। १। २१)

[ग] न परस्त्रियमुपेयात् (तैत्तिरीय १। ६। ८)

इत्यादि वेदमंत्रों में स्त्री के लिये एक पतिव्रतधर्म का और पुरुष के लिये एक-पत्नीव्रतधर्म का उपदेश दिया है। यह सभी वेदानुयायी जानते हैं। परन्तु सत्यार्थप्रकाश में इस के साक्षात् विरुद्ध न केवल व्यभिचार की, अपितु स्त्रियों को वेश्या के समान निर्लज्ज बनने की खुलम खुला आज्ञा दी है। इसी प्रकार पुरुषों को भी पिशाच बनने का आदेश किया गया है। यथा—"

टि०—(1) प्रथमावृत्ति में पृ० ४०७ पंक्तियें १०६८० अक्षर २४१७५८ थे। दशमावृत्ति पृ० ६३० पंक्तियें १८२७० अक्षर ५२६८३० होगये।

"जब पति संतानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे सुभगे ! सौभाग्यकी इच्छा करने हारी स्त्री, तू मुझ से दूसरे पति की इच्छा कर क्योंकि अब मुझ से संतानोत्पत्ति न हो सकेगी।"

(स० प्र० पृ० २२१ नूतनावृत्ति)

उपर्युक्त शब्दों में स्वामी जी ने पति के जीते जी स्त्री को पर पुरुष से मैथुन करने की आज्ञा दी है इसे केवल हम ही वेदविरुद्ध नहीं कहते बल्कि आर्यसमाज के सभी विद्वान् सर्वथा वेद विरुद्ध मानते हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने "वेदामृत" नामक पुस्तक बनवा कर स्वामी जी के इस पति पत्नी संवाद का खण्डन किया है। और "आर्यसमाज के इतिहास" में पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने भी इसे सर्वथा अवैदिक बताया है। यथा:—

"चारों वेद में एक भी ऐसा मंत्र नहीं जिसमें स्पष्ट रीति से इस (नियोग) का प्रतिपादन किया...इस लिये हम तो यह स्पष्ट कह सकते हैं कि वेद इस (नियोग) सिद्धान्तका पोषक नहीं।"

(आ० स० का इतिहास पृष्ट ८४)

आर्यसमाज के कायस्थ पं० क्षेमकरणदास ने अपने अथर्ववेद भाष्यमें इस यमयमी सूक्तको जोड़िया "बहिन भाई का संवाद बताया है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर भी "वेदामृत मंत्राङ्क ४ पर लिखते हैं कि "यम कहता......हमारी उत्पत्ति एक ही सदाचारी माता पिता से है "अर्थात् हम भाई बहिन ही रहेंगे पति पत्नी नहीं"।

प्रोफेसर राजाराम जी भी "निरुक्त भाष्य" पृष्ठ २२१ में लिखते हैं कि "वह युग आएंगे जब कि बहिनें न बहिनों वाला काम करेंगी, सो हे सुभगे! मुझसे भिन्न पति को ढूंढ, उसी पूर्ण युवा के लिये अपनी भुजा को तकिया बना"।

निरुक्तकार यास्काचार्य ने तथा सायणादि सभी भाष्यकारों ने भी इसे इसी प्रकार भाई बहिन का संवाद माना है। अतः इतनी साक्षियों के होने पर कोई भी बुद्धिमान् सत्यार्थप्रकाश के इस अवैदिक व्यभिचार को वैदिक कहने का साहस नहीं कर सकता। (चालाकी से भाई बहिन के संवाद को पति पत्नी का बना कर व्यभिचार चैलाने के जघन्य कार्य का उत्तरदातृत्व भी सत्यार्थप्रकाश के लेखक पर ही है) स्वामी जी वास्तव में व्यभिचार फैलाकर संसार को वेश्यागार बनाना चाहते थे। यह सत्यार्थप्रकाश के दूसरे लेखों से भी सिद्ध होता है। यथाः—

"और गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष से या स्त्री से न रहा जाय तो किसी से नियोग करके उसके पुत्र उत्पत्ति कर दे"

(स० प्र० दूसरी आवृत्ति नियोग प्रकरण)

यहाँ सगर्भा को भी दूसरा गर्भ ठूंसने की अप्राकृतिक आज्ञा दी है। आजकल के सत्यार्थप्रकाशों में इससे बदल कर इस प्रकार लिखा है—

"और गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम करने के समय में पुरुष से वा **दीर्घ रोगी पुरुष की** स्त्री से न रहा जाय तो

किसी से नियोग करके उसके लिये पुत्रोत्पत्ति कर दे परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करे।

(स० प्र० नूतनावृत्ति पृ० १२३)

(यहाँ पाठ बदलने का उत्तरदातृत्व भी सत्यार्थप्रकाश के भक्तों पर है।) उक्त दोनों आवृत्तियों के लेखों से यह साबित हो गया कि स्वामी जी इस महा व्यभिचार को व्यभिचार नहीं समझते थे। उनकी सम्मति में बाजारू वेश्या कर्म बुरा है, परन्तु कुलांगनाओं से वेश्याकर्म करने में दोष नहीं।

स्वामी जी ने ग्यारह तक तो कोई दोष माना ही नहीं परन्तु ग्यारह का हिसाब भी ऐसा बेढब रक्खा है कि जिससे असंख्य पुरुषों से भोग करने परने पर कोई भी ग्यारह खत्म नहीं होते। यथा—

"ग्यारहवें पुरुष तक स्त्री नियोग कर सकती है, वैसे पुरुष भी ग्यारहवीं स्त्री तक नियोग कर सकता है।

(स० प्र० नूतनावृत्ति पृष्ठ १२०)

यहां एक से लेकर ग्यारहवें तक नियोग करते समय ईश्वर से ग्यारह और मांगे जाते हैं जिनका तांता शैतान की आंत की तरह पूरा नहीं होता।

स्वामी जी की यह व्यभिचार शिक्षा अवैदिक है—यह स्वयं स्वामी जी के अन्तरात्मा की ध्वनियों से भी झलकता है। जैसा कि उन्होंने स० प्र० पृ० ११८ पर लिखा है—

"यह नियोग की बात व्यभिचार के समान दीखती है ...है तो ठीक परन्तु वेश्या के सदृश कर्म दीखता है... हमको नियोग की बातें में पाप मालूम पड़ता है"

इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश में महा व्यभिचार नियोग के उपदेशसे वैदिक पतिव्रतधर्म और पत्नीव्रतधर्म का समूल नाश किया है, और वेदों के बहाने कोकशास्त्र का प्रचार किया है। स्वामी जी को वास्तव में व्यभिचार इष्ट न होता तो वह कदापि व्यभिचारोपयोगी अन्यान्य सभी बातों का उल्लेख न करते। उन्होंने तो वह कोई बात नहीं छोड़ी जो कि कोकशास्त्र में ढूंढनी पड़े। यथा—

"जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछे सो भी सभा में लिख के एक दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवे"।

यहां स्वामी जी ने क्वांरी कन्याओं को वर से उसके...... का नाप पूछकर पहिले ही तसल्ली कर लेने की शिक्षा दी है, और इतने में भी सन्देह रहे तो विवाह से पूर्व ही वर के मूत्रेन्द्रिय पर शहद लपेटने के बहाने......को नाप लेने का संस्कार विधि में विवाह प्रकरण के **"इमं ते उपस्थं मधुना संसृजामि"** मंत्रमें उपदेश दिया है। और सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ११९ के "देवृकामा" शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुवे संस्कार विधि विवाह प्रकरण में वर के मुख से "देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करने हारी" वाक्य कहला कर विवाह से पूर्व ही कन्या को व्यभिचार करने के लिये रजामन्द किया गया है, (वेदके 'देव कामा' शब्द की हत्या करके "देवृ कामा" बनाने का, और उससे नियोग जैसे महा व्यभिचार के

फैलाने का उत्तरदातृत्व भी सत्यार्थप्रकाश के कर्ता पर ही है)। अतः यहां आपद्धर्म का ढकोंसला भी नहीं चल सकता। मैथुन के समय--

(क) "पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े और स्त्री वीर्य प्राप्ति समय अपान वायु को ऊपर खींचे योनिका संकोच कर वीर्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में स्थिर करे।"

(स० प्र० पृ० ६३)

(ख) "योनि संकोचन भी करे" (स० प्र० पृ० ६३)

(ग) "स्तन के छिद्र पर उस औषधि का लेप करे जिससे दूध स्रवित न हो, ऐसा करने से दूसरे महीने पुनरपि युवति हो जाती है।"

(घ) "स्त्री योनि सङ्कोचन, शोधन और पुरुष वीर्य का स्तम्भन करे।" (स० प्र० पृ० २४)

इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश कोकशास्त्र संबन्धी सभी उपदेशों का भंडार है "सालम मिश्री" का नुसखा तो सत्यार्थ प्रकाश की जान है। क्या कोई वेदानुयायी सत्यार्थप्रकाश की इस वेद विरुद्ध शिक्षा को वैदिक कहने का साहस कर सकता है।

सत्यार्थ-प्रकाश के लेखक की सम्मति में साधारण व्यभिचार तो क्या अगम्य व्यभिचार भी बुरा नहीं, पढ़िये यजुर्वेद भाष्य--

"प्राण और अपान के लिये दुःख विनाश करने वाले छेरी आदि पशु से वाणि के लिये मेंढा से परम ऐश्वर्य के लिए बैल से भोग करें।"

(यजुः २१ । ६० । प्रथमावृत्ति)

देखिये ! कैसे स्पष्ट शब्दों में बकरा, मेंढा, और बैल से मैथुन करने की आज्ञा दी है, अब नई आवृत्ति में "[उपयोग लें]" इतना और बढ़ा दिया है (जिसका उत्तरदातृत्व भी दयानन्दियों पर ही है) परन्तु मेंढा से क्या उपयोग लिया जा सकता है कि जिससे अपटूडेट व्याख्याता (लैक्चरार) बन सके ? और भी—

"हे माता पिता आदि लोगों ? आप हमारे बीच में प्रजा अन्न, दूध और रेत वीर्य को धारण करो।"

(यजुः १९ । ४८)

यहां तो व्यभिचार की हद हो गई जब कि कन्याएं अपने पिताओं से वीर्य दान मांगने लगी।

(क) "शरीर में स्तनों की जो ग्रहण करने योग्य क्रिया हैं उनको धारण करों।"

(यजुः २१ । ५२)

[ख] "हे मनुष्यो ! जैसे बैल गौवों को गाभिन करके पशुवों को बढ़ाता है वैसे गृहस्थ लोग स्त्रियों को गर्भवती कर प्रजा को बढ़ावें।"

(यजु० २६ । ३२)

उपर्युक्त आज्ञाओं में कुचमर्दन और स्त्री पुरुषों को चौपायों की भाँति आसन करके विपरीत रति का आदेश किया है।

[क] "पुरुष का लिङ्ग इन्द्रिय स्त्री की योनि में प्रवेश करता हुआ वीर्य को विशेष कर छोड़ता है।"
(यजु १९। ७६)

[ख] "मेरी प्रजाजनक योनि अण्ड के आकार वृषणावयव संभोग के सुख से आनन्दकारक मेरा ऐश्वर्य लिङ्ग और पुत्र पौत्रादि युक्त होवें।"
(यजु: २०। ९)

इत्यादि मंत्रों में निराकार के मुख से व्यभिचार वर्णित है।

स्वामी जी ने इस व्यभिचार का केवल वाणीमात्र से कथन ही नहीं किया, बल्कि स्वयं भी रामाबाई को मेरठ में बुलाकर उसे पढ़ाया है। यह निम्नलिखित स्वामी जी के पत्रों से स्पष्ट होताहै।

"दूसरा पत्र"

(दयानन्द लेखावली[1] से, आषाढ शुक्ल १५ बुध सं० १९३६ का लिखा...)

"आपका प्रेमास्पद आनन्दप्रद पत्र मिला उसको देखने से अतीव सन्तोष हुवा श्रीमती को थोड़ा सा कष्ट देता हूँ उसे क्षमा करेंगी...श्रीमती का जन्म कहां है ? आयु कितनी है ?

टिप्पणी—(1) "दयानन्द लेखावली" नामक पुस्तक १ जून सन् १९०३ में "पंजाब प्रिंटिंग वर्क्स" लाहौर में दयानन्दमतानुयायी "रैमल" द्वारा प्रकाशित की गई थी। उक्त पुस्तक में छपे हुवे पत्र ही यहां ज्यों के त्यों उद्धृत किये हैं।

आपक निज गृह कहां हैं ? और वंश के लोग कहां रहते हैं ? अब आपके साथ स्वजातीय पुरुष वा स्त्री है, अथवा एकाकिनी है ?

यदि मार्ग व्यय के अर्थ धन की अपेक्षा हो तो सूचित कीजिए कि कितना धन कहां भेजा जावे। आपको ऐसी शंका व लज्जा नहीं करनी चाहिये कि पूर्व परिचय के बिना किस प्रकार धन के अर्थ लिखें, निदान किसी प्रकार कार्य हो। यदि आप इस समय के बीच आवेंगी तो मेरा समागम होगा—

"दयानन्द सरस्वती"

रमाबाई का उत्तर पत्र

(कलकत्ता १-८-२७ का लिखाहुआ)...

"मैसूर राजा के देश में सह्य पर्वत की चोटी पर गंगामूल स्थान में मेरा जन्म हुआ २२ वर्ष की आयु गुजर गई तेइसवां वर्ष वर्तमान है, माता-पिता लोकान्तर को पधार गये। अब कोई भी सजातीय जन मेरे पास नहीं (रमा)"

इस पत्र से दयानन्द ने उमर और माता-पिता सजातीय पुरुष का साथ न होना आदि सब अपने अनुकूल समझे, तब तो उत्तर में स्वयंवरादि की चर्चा करते हुवे अपना प्रयोजन लिखा। दयानन्दियों ने उस पत्र के गुम हो जाने का बहाना किया है फिर भी रमा के निम्नलिखित पत्र से उस पत्र का भाव खूब झलकता है—यथा—

"रमा का दूसरा पत्र"

"...उचित है कि ऊपर लिखे आग्रह से हट जावें, यत महात्माओं का लक्षण है कि मन में एक, वाणि में एक, कर्म में एक

हो। इसके विरुद्ध आचरण से मन में और, वाणि में और, कर्म और–इस वचन का आपतन होता है।—मैं मूर्खों के पराभव से नहीं डरती क्योंकि मुझे आशा है कि शिक्षित मात्र मुझे दोष नहीं देंगे, जिस लोकसंग्रह में. मूर्खों और आग्रह से अंधे हुए लोकों से भय किया जावे और सत्य को छिपाया जावे तो उस लोकसंग्रह में मेरी–बरन सब सुशिक्षितों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। (रमा)"

इस पत्र से साफ है कि दयानन्द ने रमा को क्या लिखा था। फिर न जाने किस प्रकार उक्त देवी को प्रसन्न कर लिया गया, और वह छः मास तक मेरठ रह कर स्वामी जी से शिक्षा ? पाती रही।

इस प्रकार निश्चित होता है कि सत्यार्थप्रकाश के लेखक को व्यभिचार इष्ट था, तभी तो परस्त्रीगमन, परपुरुषगमन, बैल-गमन, बकरागमन, मेंढागमन, कन्यागमन, और पुत्रीगमन आदि पैशाचकृत्यों का सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन किया है। क्या आप इसे वेदानुकूल समझते हैं ? यदि हाँ ! तो वेद मंत्र देकर सिद्ध कीजिये।

२–द्वितीय प्रश्न

(क) मा हिंसीत्पुरुषान्पशूंश्च।

(अथर्व ३।२८।५)

(ख) मागामनागामदितिं वधिष्ट।

(ऋ० ६।७८।४)

(ग) न मा ७ समश्नीयात्।

(तैत्तिरीय ११।६।७)

इत्यादि वेदमंत्रों में भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में गोहिंसा पशुहिंसा और पुरुष हिंसा का निषेध किया है तथा उनके मांस को खाने का निषेध किया है, यह सभी मनुष्य जानते हैं, परन्तु सत्यार्थप्रकाश में दयानन्दजी ने खुले शब्दों में न केवल मांस भक्षण, अपितु गोमाँसभक्षण, नरमाँसभक्षण तक की आज्ञा दी है जो सर्वथा वेद विरुद्ध और प्राणिमात्र के लिये हानिकारक है। यथा:—

"यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों उनको दण्ड देवे, और प्राणों से भी वियुक्त करदे (प्रश्न) फिर क्या उन का (पशुमनुष्यादि का) मांस फेंकदे ? (उत्तर) चाहे फेंकदे चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें अथवा कोई मांसाहारि (मनुष्य) भी खावे तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती किन्तु उस मनुष्यका स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है"

(स० प्र० सप्तमावृत्ति पृ० २ ७)

यहाँ स्पष्ट शब्दों में स्वामी जी ने "मांस भक्षण और मनुष्य मांस भक्षण से संसार की कोई हानि नहीं" ऐसा लिखा है यह सीधी साधी भाषा है इस में किसी कोई दांव पेच नहीं चल सकता, यदि पक्षपात वश कोई उसे उड़ाने का प्रयत्न करे तो यह हास्यास्पद होगा क्योंकि स्वामीजी को माँसभक्षण वास्तव में अभीष्ट था, यह सत्यार्थप्रकाश के अन्यान्य प्रमाणों से भी स्पष्ट होता है। जैसे:—

"चार प्रकार के पदार्थ होम के लिखे हैं, एक तो जिस में सुगन्ध गुण होय जैसे कस्तूरी केशरादिक और दूसरा जिस में मिष्ट गुण होय जैसे कि मिश्री दूध मांसादिक"

(स० प्र० प्रथमावृत्ति पृष्ठ ४५)

और भी:—

"कोई भी मांस न खाय तो जानवर पक्षी मत्स्य और जलजन्तु इतने हैं उनसे शत सहस्त्र गुने हो जायं फिर मनुष्यादिको मारने लगें"

(स० प्र० प्रथमावृत्ति पृष्ठ ३०२)

और भी—

(क) "जो ब्रंध्या गाय है उसको भी गोमेध में मारना ।......"

(ख) "और जो मांस खाय अथवा घृतादि से निर्वाह करे वे भी सब अग्नि में होम के बिना न खाय"

(स० प्रथमावृत्ति पृ० ३०३)

इस प्रकार स्थान २ में स्वामी जी ने युक्तियें देकर मांस का हवन करने की और मांस खाने आज्ञा दी है।

कई महाशय इसे कम्पोजिटरों की भूल कहना चाहा करते हैं, परन्तु यह उनकी हठधर्मी ही हो सकती है। क्योंकि कम्पोजिटर अपनी ओर से युक्ति प्रमाण सहित कोई भी सिद्धान्त

किसी पुस्तक में नहीं बढ़ा सकते, फिर यदि "दुर्जन-तोष" न्याय से थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय तो स्वामी जी को शुद्धिपत्र लिखते समय सात वर्ष तक यह पता नहीं लग सका कि मेरी इस पुस्तक में यह क्या गड़बड़ झाला है। और दूसरी आवृत्ति की भूमिका में भी इसका निर्देश नहीं किया गया।

स्वामी जी के दूसरे ग्रन्थ देखने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि उन्हें मांस भक्षण इष्ट था। जैसे यजुर्वेद भाष्य में लिखा है:—

(१) "जो हानिकारक पशु हों उनको मारे"

(यजुः १३ । ४८)

(२) "और जो जंगल में रहने वाले नील गाय आदि प्रजा की हानि करें वे मारने योग्य हैं"

(यजुः १३ । ४९)

(३) "जो इस संसार में बहुत पशु वाला होम करके हुतशेष का भोक्ता वेदवित् और सत्य क्रिया का कर्ता मनुष्य होवे सो प्रशंसा को प्राप्त होता है"।

(यजुः १९ । २०)

इस प्रकार स्वामी जी के ग्रन्थों में वास्तव में माँस खाने की आज्ञा है, इसका जीता जागता सबूत यह भी है कि असली दयानन्दी, लकीर के फकीर हो कर अपनी मांस पार्टी बनाए हुवे हैं, और डंके की चोट इसे स्वामीजी की आज्ञा कहते हैं। जोधपुर राजधानी मेवाड़ के आर्यसमाजियों ने २२० पृष्ठ की

"माँस भोजन विचार" नामक पुस्तक छाप कर स्वामी जी की इस वेद विरुद्ध आज्ञा का समर्थन किया है, यथा उक्त पुस्तक के पृष्ठ ८९ पर लिखा है कि:—

"जल और घी से पकाया हुआ बकरा सर्वोत्तम खाना है, इससे मुख प्रकाश और ज्ञानादि युक्त धर्म लोक प्राप्त होते हैं"

तथा पृष्ठ ९ पर—

"बकरे के जघन मांस से सिद्ध भात को पश्चिम दिशा में धरो, दूसरे भाग के पकाए भात को…कुक्षिस्थ मांस से पकाए भात को—बकरे के बकरी वाले स्थान से सिद्ध भात…मध्य भाग के पकाए भात को पूर्वादि दिशाओं में धरो"।

यहां यह उत्तर कदापि नहीं हो सकता कि कुछ मुठ्ठी भर समाजी लोग इस बात को नहीं मानते, क्योंकि स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में जैन ग्रन्थों की चर्चा करते हुये साफ लिख दिया है कि "जिसको कोई माने कोई न माने इससे वह ग्रन्थ जैनमत से बाहर नहीं हो सकता। हाँ! जिसको कोई न माने और न कभी किसी जैनी ने माना हो तब तो अग्राह्य हो सकता है"। बस, इसी न्याय से मुठ्ठी भर पुरुषों के वाचिक इन्कार करने पर भी स्वामी जी का मांस विधान सत्यार्थप्रकाश से दूर नहीं हो सकता।

स्वामी जी की इस मांसभक्षण की आज्ञा का पालन समाज मन्दिरों में अधिकारियों द्वारा किया होता है। हमें लिखते हुवे

लज्जा आती है कि समाजमन्दिरों में गोमांस तक खाया जाता है, आर्यसमाज के प्रसिद्ध पं० द्वारकाप्रसाद सेवक ने "आर्य-मित्र" आगरा के दयानन्दशताब्दी अङ्क के पृष्ठ १२३ पर स्पष्ट लिखा है। यथाः—

"बल्कि कई समाज मन्दिरों में तो अधिकारी गण ठीक वेदी के स्थान पर ही जूतों सहित बैठना आवश्यक समझते हैं समाज मन्दिरों में रंडियों का नाच होते-शराब और बीफ (गोमांस) उड़ते हमने आंखों देखा है"।

स्वामी जी का यह गोमांस-भक्षण, नरमांस-भक्षण, और मांस-हवन का विधान न केवल वेद विरुद्ध है, अपितु मनुष्य को राक्षस बनाने वाला है क्या—आप इसे वेदानुकूल समझते हैं, यदि हां,तो ! वेदप्रमाणोंसे सिद्ध कीजिये।

३--तृतीय प्रश्न

(२) तद्यत्तत्सत्यं त्रयी सा विद्या।

(शतपथ ९। ५। १। १८)

इत्यादि वेद वचनों से यह सर्व-तंत्र सिद्धान्त है कि वेद में सत्यका ही प्रतिपादन किया गया है, परन्तु सत्यार्थप्रकाश में अगणित मिथ्या असंभव और झूठी बातों की भरमार है जिन्हें तीन काल में भी वैदिक नहीं कहा जा सकता, अत:असत्य असंभवादि दोष ग्रस्त होने से सत्यार्थप्रकाश वेद विरुद्ध है।

सत्यार्थप्रकाश की असंभव झूठी बातों का दिग्दर्शन हम नीचे कराते हैं। यथा:—

"धन्य है वह माता जो कि गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे"

(स० प्र० पृ० २३)

गर्भाधान के समय रजोवीर्य के कलल को उपदेश देने की शिक्षा न केवल वेद विरुद्ध है अपितु बुद्धि बाह्य भी है। इसी प्रकार सृष्टि उत्पत्तिप्रकरण में युवा युवा स्त्री पुरुषों के जोड़े तिब्बत में असंभव रीति से पैदा होने लिखे हैं। और भी:—

"जो अतिउष्ण देश हो तो सब शिखा सहित छेदन करा देना चाहिये"

(स० प्र० पृ० २७३)

यहां वेद के नामपर महा झूठ गप्प हांकी है, जो हिन्दू धर्म का नाश करने वाली है। जिस शिखा की रक्षा के लिये हिन्दुवों के पूर्वजों ने शिर कटवाने पसन्द किये हों, उसका छेदन कोई भी हिन्दू वेद-सम्मत नहीं मान सकता।

सत्यार्थप्रकाश का लेखक वास्तव में झूठी बातों का पक्ष पाती था, यह उसके दूसरे ग्रन्थों के पाठ से भी स्पष्ट होता है। यथा—यजुर्वेद भाष्य में लिखा है:—

"हे मनुष्यो ! स्थूल गुदेन्द्रिय के साथ वर्तमान अन्धे सांपों को और गुदेन्द्रिय के साथ वर्तमान कुटिल सांपों को लेवो"

(यजु० २५ । ७०)

इसमें गुदा के साथ सांपों का पकड़ना लिखा है जो असम्भव है।

और भी :–

"हे मनुष्यो ! घोड़े की लेंडी लीद से तुझको पृथिव्यादि के ज्ञान के लिये, तत्व बोध के उत्तम अवयव के लिये तुझको यज्ञ सिद्धि के लिये तुझको सम्यक् तपाता हूं"

(यजु० २७ । ९)

यहां घोड़े की लीद में तपकर यज्ञसिद्धि आदि का होना बताया गया है, जो मतवाले की बहक के बराबर है। और भी यजुर्भाष्य (१४ । ९) में वैश्य को ऊंट, शूद्र को बैल, नौकर को खच्चर आदि कहा है। तथा यजुर्भाष्य (१६ ५२) में राजा वा सभा पति को सुँवर कहा है, और ऋग्भाष्य (२ । ३ २८) में विद्यार्थी को घोड़ा, तथा ऋग्भाष्य (३ १ । १ । १०) में भैंस का सींग कहा है, यह सब बातें असंभव मिथ्या और झूठी हैं, सत्यज्ञान के भंडार वेद में ऐसी मिथ्या बातों का क्या काम ? यदि आप इस असत्वोपदेश को भी वेद-सम्मत समझते हैं तो वेद प्रमाणों द्वारा सिद्ध कीजिए।

इस प्रकार (१) व्यभिचार (२) मांसभक्षण और (३) असत्य प्रतिपादन रूप तीन हेतुवों से सत्यार्थप्रकाश वेद बाह्य और प्राणिमात्र के लिये हानिकारक है, यह हमारा पक्ष है। आप यदि इसे वैदिक समझते हैं तो वेदमंत्रों से हमारे हेतुवों का खंडन कीजिए।

भवदीय
प्रतिवादी भयंकर—
माधवाचार्य शास्त्री

आर्यसमाज का उत्तर ।

नैरोबी

ति० २३-६-२७

सेवा में—

श्री० पं० माधवाचार्य जी

स० ध० सभा—नैरोबी ।

नमस्ते ! सत्यार्थप्रकाश पर-जिसमें तीन प्रश्न आपने किये हैं वह आपका ता० १८-६-२७ का पत्र मिला, तदनुसार निवेदन है कि आपने ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका आदि ग्रन्थ यदि द्वेषबुद्धि से न देखे होते तो प्राचीन ऋषि महर्षियों के सिद्धान्तानुसार चार वेदों को प्रमाण उन्होंने किस प्रकार माना है यह आपकी समझ में आ जाता । आपके भ्रम निवारणार्थ यद्यपि इस विषय में हमने आपके मंत्री जी के पूर्व पत्रों के उत्तर में यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि वेद और ब्राह्मणादि ग्रन्थ ऋषि दयानन्द प्रामाणिक किस प्रकार मानते हैं । आज हम उनके ही ग्रन्थों का अवतरण देकर अधिक स्पष्ट कर देते हैं। सम्भव है कि आपका भ्रम दूर हो जावेगा । केवल संहिता को ही प्रमाण मान कर अपने पक्ष की पुष्टि में प्रमाण दें, **यह** आपकी राजाज्ञा **को** हम नहीं मान सकते । देखो स्वयं ऋषि दयानन्द 'ग्रंथ-प्रामाण्याप्रामाण्य'' विषय में अपनी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में नीचे लिखे अनुसार लिखते हैं :—

"ईश्वर की कही हुई जो चारों मंत्र संहिता हैं वे ही स्वयं प्रमाण होने योग्य हैं अन्य नहीं। परन्तु उनसे भिन्न भी जो २ जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं वे भी वेदों के अनुकूल होनेसे परतः प्रमाण के योग्य होते हैं…इसी प्रकार ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रंथ जो वेदों के अर्थ और इतिहास आदि से युक्त बनाये गये हैं वे भी परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं।" इत्यादि।

उपर्युक्त लेख से ऋषि दयानन्द जी स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों को मानने वाले थे, यह बात कोई भी विद्वान् मान सकता है। परन्तु हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि आप हमें केवल संहिताओं का प्रमाण देने का आग्रह क्यों करते हैं।[1] अन्य ऐतरेयादि ग्रन्थ हमारे मत में वेदों के तुल्य भले ही स्वतःप्रमाण न हों परन्तु आपके तो वे माननीय[2] 'वेद' हैं न ! क्या आपको यह भ्रम या भय है कि ऐतरेयादि ग्रन्थों के प्रमाण देने से हम आपके पक्ष का खण्डन कर सकते हैं—यदि

टि०—(१) इसलिये कि आप केवल संहिताओं को वेद मानते हैं. और वैदिक होने का दावा करते हैं।

टि०—(२) निःसन्देह हमारे लिये न केवल ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थ, अपितु उपनिषद्, दर्शन, धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण आदि सभी आर्य ग्रन्थ माननीय हैं, परन्तु आज तो हमें आपकी मनघड़न्त मान्यता का परीक्षण करना है, अब बांये दायें क्यों झांकते हो ?

यह हमारा अनुमान सत्य हो तो यह बात सिद्ध हुई जाती है कि आप के माननीय ग्रन्थों से ऋषि दयानन्द के पक्ष की पुष्टि और पौराणिक मत का खण्डन हो जायेगा, यदि ऐसा है तो ऋषि दयानन्द के पक्षपोषक प्रमाण आपके माननीय ग्रन्थों में होने से ही आप घबराते हैं।

प्रथम प्रश्न के पूर्व आपने सत्यार्थप्रकाश का ऋषि दयानन्द कृत भूमिका का यह अवतरण दिया है कि :—

"जिस समय मैंने यह ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृतभाषण करने पठन पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्म भूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान नहीं था इससे भाषा अशुद्ध बनगई थी अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है इस लिये इस ग्रन्थ की भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध-करके दूसरी बार छपवाया है। कहीं कहीं शब्द वाक्य रचना का भेद हुआ है, सो करना उचित था क्योंकि इसके भेद किये बिना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है"

इससे पहले आप लिखते हैं कि:—

"यह स्वामी जी का अन्तिम लेख है इससे स्पष्ट कि स्वामी जी को प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश की भाषा

सम्बन्धी अशुद्धियों को छोड़ कर शेष किसी अंश विशेष पर कोई आपत्ति नहीं थी। प्रत्येक आवृत्ति में जो परिवर्तन किया गया है यह आर्यसमाजियों की अनधिकार चेष्टा है जिसका उत्तरदातृत्व भी उन्हीं पर है"।

पं० माधवाचार्य जी! अपने स्वामी जी की भूमिका के जिस पैराग्राफ का अवतरण दिया है उसको तो आपके पत्र में अवकाश मिला परन्तु उसी पैराग्राफ के अन्तिम छोटे बड़े दो वाक्य आपने **चोर किये हैं,** जिससे आप बराबर पकड़े गये हैं। ठीक ही है जिनका उपास्यदेव "चोरजारशिखामणिः[1]" हो उसकी उपासना करने से वह प्रसन्न हो कर अपने प्रिय भक्तों को भी "चोरजारशिखामणि" क्यों न कर दे? इससे आप चोर भक्त ठहर गये इसमें सन्देह नहीं। स्वामी जी उक्त पैरेग्राफ के अन्त में लिखते हैं कि—

"प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है। हां! जो प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रह गई थी वह निकाल शोध कर ठीक २ कर दी गई है।"

उपर्युक्त दोनों वाक्य आपके अवतरण के साथ मिलाने से स्वामी जी का भाव स्पष्ट हो जाता है कि सत्यार्थप्रकाश की प्रथमावृत्ति में मांसभक्षण, यज्ञ में पशु हनन और मृतश्राद्ध के विषय में जो वेद विरुद्ध लेख भूल से (लेखकों और संशोधकों की

टिप्पणी—(1) पाठकगण समाजी पंडित पुंगव की उत्तर शैली का परिक्षण करें, मूलप्रश्न का कुछ उत्तार सूझता नहीं व्यर्थ ही चोर जार की रट्ट लगाता जा रहा है।

भूल से) छप गया था उसको स्वामी जी ने निकाल शोध कर ठीक २ कर दिया है। इस वाक्यार्थ ने[1] आपकी चोरी पकड़ने में पुलिस का काम खूब बजाया है! आपका तो दुष्ट भाव यह था कि प्रथमावृत्ति में जो भूल से छपा है उनको लेकर हम सामाजिकों की पेट भर निन्दा कर लें। परन्तु उक्त दो वाक्यों ने आपके दुष्ट भाव को नष्ट प्रायः कर दिया है।

टिप्पणी—(1) महाशय बालकृष्ण हमारे उद्धृत किये हुवे स० प्र० भूमिका के लेखके साथ "प्रत्युत विशेष..." आदि वाक्यों को मिलाकर सत्यार्थप्रकाश के गड़बड़ घुटाले को "लेखकों और संशोधकों की भूल" बताकर मूल प्रश्न से भागने की चेष्टा करते हैं, परन्तु अज्ञता वश उन्हें यह पता नहीं, कि उक्त दोनों वाक्यों का हमारे उद्धरण से समन्वय करने पर तो और भी हमारे पक्ष की पुष्टि होती है। पाठक वृन्द! "जो प्रथम छपने में कहीं कहीं भूल रही थी वह निकाल शोध कर ठीक २ कर दी गई है,—इस वाक्य का "परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया"—इस वाक्य से समन्वय करके अर्थ लगाएं, यदि यहां "भूल" और "निकालने" का अर्थ—गुजराती मातृ भाषा के कारण हिन्दी भाषा व्याकरण सम्बन्धि अशुद्धियें, तथा क, च,ट, आदि के विपर्य्यय से कम्पोजीटरों की भूल—निकालने का अभिप्राय लिया जायगा तभी तो "अर्थ का भेद नहीं किया" कहना ठीक हो सकता है, परन्तु पक्षपातान्ध-महाशयजी के कथनानुसार यदि इसका अर्थ "मांस भक्षण, यज्ञ में पशु हनन, और मृत-श्राद्धादि—सप्रमाण सयौक्तिक लम्बे लम्बे लेख" निकाल डालना माना जावे तो फिर "अर्थ का भेद नहीं किया"—यह वाक्य महा मिथ्या सिद्ध होगा।

१–प्रथम प्रश्न का उत्तर ।

आपने पातिव्रतधर्म विषयक जो वेद मन्त्रादि के प्रमाण लिखे हैं वे हमको भी सर्वथा माननीय हैं। परन्तु आप लिखते हैं कि—

"परन्तु सत्यार्थप्रकाश में इसके साक्षात् विरुद्ध न केवल व्यभिचार अपितु स्त्रियों को वैश्या के समान निर्लज्ज बनने की खुल्लमखुल्ला आज्ञा दी है इसी प्रकार पुरुषों को भी पिशाच बनने का आदेश किया है।"

कोई मेरे जैसा मनुष्य वार्धक के कारण विस्मृति कर दे तो उसका वह दोष आप क्षम्य मानते हैं परन्तु आप जैसे युवावस्था में होने पर भी यदि विस्मृति करें तो उसका प्रायश्चित्त क्या होना चाहिए यह आप ही मानव-धर्मशास्त्र में देख लें। आप यहां पुराणों का प्रत्येक शब्द वेदानुकूल सिद्ध करने के अभिमान से आये हैं, इसलिये इतनी बड़ी विस्मृति करना आपके लिए अक्षम्य है। आप व्यास जी को ईश्वर का अवतार, वेदों के

इसके अतिरिक्त प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश में यदि स्वामी जी को उक्त विषय "लेखकों और संशोधकों की भूल" से छपे प्रतीत होते तो क्या वह शुद्धाशुद्धि पत्र में इस बात का उल्लेख न करते अथवा अपने जीवन में सात वर्ष पर्यन्त प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश को न देख पाते। महाशयजी! अब आप ही बताएं कि उक्त दोनों वाक्यों ने हमारी चोरी पकड़ने में पुलिस का काम किया है या आपकी?

विभाग करने वाले और अष्टादश पुराणों के कर्ता मानते हैं। सब सनातनी पण्डित उनको महाभारत का भी कर्ता मान कर उस ग्रन्थ को पंचम वेद मानते हैं। जब उसी वेदव्यास ने अपनी माता की आज्ञा से धर्म समझ कर अम्बिका और अम्बालिकादि से स्वयं नियोग[1] किया और उनसे धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर ये तीन पुत्र उत्पन्न किये। यथा :—

"वेत्थ धर्मं सत्यवति ! परं चापरमेव च ॥३९॥
तथा तव महाप्राज्ञे ! धर्मे प्रणिहिता मतिः।
तस्मादहं त्वन्नियोगाद्धर्ममुद्दिश्य कारणम् ॥४०॥

टिप्पणी—(1) जिन पुराण महाभारतादि ग्रन्थों को कोसने का समाजियों ने ठेका ले रक्खा है, आज उन्हीं पुराणोंके द्वारा सत्यार्थप्रकाश की वैदिकता सिद्ध की जा रही है, क्या आर्यसमाज के लिये यह चुल्लु भर पानी में डूब मरने की बात नहीं है ? महाभारत में दयानन्दी समाज का अभिमत नियोगनामक व्यभिचार वर्णित है वा नहीं, तथा धृतराष्ट्र और पाण्डु नियोग से उत्पन्न हुवे थे या वरदान द्वारा—यह तो इसी पुस्तक के पृष्ठ ३४. ३५ की हमारी टिप्पणी से भली भांति स्पष्ट हो जाता है परन्तु हम समाजी से यह दर्यापत करना चाहते हैं कि यदि "दुर्जन-तोष" न्याय से क्षण मात्र के लिये यह मान भी लिया जावे कि उक्त ग्रन्थों में नियोग का उल्लेख है, तो क्या, इतने मात्र से नियोग की वैदिकता सिद्ध हो जायगी ? महाशय जी कुछ बुद्धि से काम लिया कीजियेगा। कहां महाभारतादि लिखित योग प्रभाव द्वारा उत्पन्न होने वाली संतति का वर्णन ! और कहां "सत्यानाश अंधेर" के चौथे समूलनाश का ११×११=१२१ पुरुषों से भोग करने का जघन्य पापाचार !!

इप्सितं ते करिष्यामि दृष्टं ह्येतत्सनातनम् ।
भ्रातुः पुत्रान्प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान् ॥४१॥
(म. भा. आदि पर्व अ. १०५)

अर्थात्—हे सत्यवती ! तुम पैर और अपर धर्म को जानती हो । इसी प्रकार हे महाप्राज्ञे ! तेरी मति धर्म में स्थिर है । इस लिये मैं तेरी आज्ञा से यह काम धर्मानुकूल है ऐसा समझ कर तेरी इच्छा के अनुसार—इस सनातनधर्म को करूंगा । और (तेरी बहुओं में) मित्र और वरुणके समान पुत्र उत्पन्न करूंगा[1]

टिप्पणी—([1]) समाजी ने महाभारत के श्लोक उद्धृत किये हैं, इनमें मैथुन द्वारा पुत्रोत्पत्ति द्योतक एक भी शब्द नहीं परन्तु स्वा० दयानन्द की भांति शास्त्रों का गला घोंटकर व्यभिचारकी झूठी वकालत करने के लिये (१०—४१) श्लोक के अर्थ में "प्रदास्यामि" क्रिया का अर्थ मनमाने ढंग से "उत्पन्न करूंगा" करडाला । क्या कोई समाजी तीनकाल में भी (डुदाञ् दाने) धातुकी दानार्थ क्रिया का उत्पादन अर्थ कर सकता है, यदि हां तो मैदान में आए !! मैं सिद्धिकर्ता महाशयको १०००) रु० पुरस्कार दूंगा, अन्यथा इस अनर्थका प्रायश्चित्त समाजको अवश्य करना चाहिये ।

महाभारत में यदि वास्तव में भोग या मैथुन द्वारा सन्तानोत्पन्न करने का वर्णन होता तो वहां जराजीर्ण वृद्ध, दुर्बल-कलेवर, पीली-धूसर-जटा धारी, एवं भस्म-मल—दिग्ध अंगवाले व्यासजी जैसे ऋषि के स्थान में किसी हट्टे कट्टे शौकीन सुंदर एवं युवा राजपुत्र का वर्णन होता, इसी प्रकार जिन अंबिका आदि में पुत्र उत्पन्न हुवे हैं उनके लिए पूरे एक वर्ष तक कठिन तपश्चर्या द्वारा शरीर सुखा डालने का वर्णन न होकर हलुवा मांडाखाकर पुष्ट शरीर होने का जिक्र होता, परन्तु महाभारत में तो सन्तानोत्पत्ति से पूर्व ही कठिन तपश्चर्या का आदेश करते हुवे व्यास जी ने कह दिया था कि—

ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः ।
दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह ।।४।।

(म. भा.आदि प. अ.१०९)

अर्थात्—माता की आज्ञा पाकर सत्य वाणी बोलने वाले महर्षि व्यास ने प्रथम अम्बिका में नियुक्त होकर दीप्यमान दीपों वाले मकान में प्रवेश किया ।

(क) व्रतं चरेतां तौ देव्यौ निर्दिष्टमिह यन्मया ।
सम्वत्सरं यथा न्यायं ततः शुद्धे भविष्यति ।
नहि मामव्रतोपेता उपेयात्काचिदंगना ।।

(म० भा० आदि० अ० १०५)

अर्थात्—(वेदव्यास जी ने माता सत्यवती से कहा कि—) कौशल्या और अम्बिका को मेरा बताया हुआ व्रत नियम पूर्वक वर्ष पर्यन्त धारण करना चाहिये, तब वे शुद्ध हो सकेंगी, बिना व्रत किये मेरे निकट वे हरगिज न आवें ।

इसी प्रकार अम्बिका आदि के सामने आते ही व्यास जो ने माता से स्पष्ट कह दिया था कि ;—

(ख) प्रोवाचातिन्द्रियज्ञानो ।८।
(ग) अन्ध एव भविष्यति ।१०।
(घ) पाण्डुरेव भविष्यति ।१८।

(म. भा. आदि. अध्याय १०६)

इसी प्रकार भीष्म ने भी इस नियोग कर्म को सनातनधर्मानुकूल माना है परन्तु प्रतिज्ञावश होने के कारण अम्बिका और अम्बालिका में स्वयं नियोग न कर सके। इसी प्रकार और भी कहा है कि—

अर्थात्—त्रिकालज्ञ, इन्द्रियातीत ज्ञान वाले व्यास जी ने कहा कि अंम्बिका का पुत्र जन्मान्ध होगा, अम्बालिका का पुत्र पाण्डु रोग वाला होगा।

क्या कोई साक्षर उपर्युक्त प्रमाणों के होते हुवे भी यहां नियोग भोग का ढकोंसला लगा सकता है? क्या समाजी लोग भोग करने के अनन्तर तत्काल ही यह गारंटी दे सकते हैं कि गर्भ स्थिति हो गई है, तथा पुत्र ही होगा, और वह भी काला, गोरा, अंधा, काना ऐसा होगा? यदि नहीं तो फिर अपने परमाराध्य (?) महाव्यभिचार-नियोग की मिथ्या वकालत के लिदे शास्त्र हत्या क्यों कर रहे हो?

मनु जी ने (अध्याय ९ श्लोक ५९ से ९८ तक) नियोग का विवेचन करते हुवे लिखा है कि—

(ङ) पशुधर्मो विगर्हितः

अर्थात्—पशुओं का धर्म है और सर्वथा निन्दित है।

आर्य्यसभ्यता के जमाने में वेन नामक एक कामी एवं नास्तिक राजा ने इसे कानूनन प्रचलित करना चाहा था, जिस अपराध पर प्रजा के लोगों ने उसे लात घूंसों की पशुमार से मार डाला था, यह इतिहास साक्षी देता है, जिस हिन्दू सभ्यता में यह लिखा हो कि—

कामं तु क्षपयेद्देहं कंदमूलफलाशनैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्युः प्रेते परस्य तु ॥
(मनु. ५।१५६-१६२)

"एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा ।
ततः संभूय सर्वाभिः क्षत्रियाभिः समंततः ॥५॥
उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम् ॥६॥

टीका—ब्राह्मणैः संभूय संगं कृत्वोत्पादितानीति सम्बन्धः ॥
(म० भा० आ० प० अ० १०४)

अर्थात्—जब परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी निःक्षत्रिय की तब क्षत्रियों की विधवाओं ने वेदपारग ब्राह्मणों से संग करके संतान उत्पन्न की, और जो सन्तान उत्पन्न हुई वह वेद में निश्चित रूप से लिखे अनुसार विधवा स्त्रियों के मृत पतियों की मानी गई[1] । और भी कहा है कि—

अर्थात्—स्त्री कंद मूल फल खाकर शरीर को सुखा डाले परंतु पति के मर जाने के बाद दूसरे का नाम भी न ले ।

उस हिन्दू सभ्यता को बदनाम करने के लिये आज दयानन्दी टोला कमर कसे हुवे हैं । हे ईश्वर ! तू इनको सुबुद्धि प्रदान करे ।

टिप्पणी—(१) बिल्ली को चूहों के ही सुपने आया करते हैं—यह कहावत पं० बालकृष्ण जी पर खूब चरितार्थ हो रही है, इसी लिये श्लोक २ में नियोग भोग दिखाई दे रहा है, अन्यथा—उक्त श्लोकों का तात्पर्य तो साफ है कि पतियों द्वारा जो क्षत्राणियें सगर्भा हो चुकी थीं, उन्होंने पतिमृत्यु के पश्चात् वेदपाठी ब्राह्मणों से ऐसे यज्ञानुष्ठानादि तथा औषधी प्रयोग करवाये कि जिन के प्रभाव से गर्भ पात आदि विघ्नों की निवृत्ति हो जाये और कन्यायें उत्पन्न न होकर वंशधर पुत्र ही उत्पन्न हों, यज्ञानुष्ठान और औषधियों से "सो लपट" हो जाती हैं,

कुलीनं द्विजमाहूय वध्वा सह नियोजय ।
नात्र दोषोऽस्ति वेदेऽपि कुलरक्षाविधौ किल ॥६०॥

(दे. भा. स्क.- १ अ. २)

अर्थात्—भीष्म जी माता सत्यवती से कहते हैं कि आप किसी **कुल वाले ब्राह्मण को** बुला कर अपनी बहुओं के साथ नियोग करा दीजिये । कुल की रक्षा करनी हो तो वेदों में इस बात को दोष नहीं माना है ।[1]

यह प्रत्यक्ष है । आयुर्वेद इसका साक्षी है । परशुराम जी ने क्षत्रिय पुरुषों का संहार कर दिया था,—वंशवृद्धि के अर्थ पुत्रों की आवश्यकता थी, यही इसका अभिप्राय है । यहां "मैथुनं कृत्वा" यानी मैथुन करके यह कहीं भी नहीं लिखा, "संभूय" शब्द का अर्थ तीन काल में भी "भोग कर के" ऐसा नहीं हो सकता बल्कि "एकत्रित होकर" होता है यदि आर्यसमाज की किसी नई डिक्सनरी में संभूय=संगकृत्वा (एकत्रित होकर) आदि शब्दों का अर्थ–नियोग, भोग, व्यभिचार होता है तब तो–

(क) दयानन्द शताब्दी पर मथुरा में एक लाख समाजी **एकत्रित** हुवे ।

(ख) सदा तुम करते रहो सत्पुरुषों का **संग** ।

यहां भी आपका अभिमत अर्थ होकर अनर्थ हो जायगा । इसके अतिरिक्त यदि महाभारत में भोग द्वारा ही पुत्र उत्पन्न करना अभिप्रेत होता तो फिर "ब्राह्मणैर्वेदपारगैः" के स्थान में "हट्टैः कट्टैर्महाशयैः" अधिक उपयुक्त होता । क्या वेद पारंगत ही मैथुन में निपुण होते हैं । आपके अर्थ से तो पवित्र वेद कोरा कोकशास्त्र ठहरता है, पाठक गंभीरता से विचार करें ।

जिन बातों को आप व्यभिचार और पिशाच धर्म कहते हैं वे बातें तो आपके माननीय ग्रन्थों में लबालब भरी पड़ी हैं [1]। तब आप अपने घर का द्वार बन्द करके दूसरे के स्वच्छ[2] मकान को घृणित कहते क्यों नहीं शरमाते ? यही हमें आश्चर्य है। आप घबराइये नहीं वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों से भी हम नियोग को आगे आपद्धर्म ठहरावेंगे। तब तक आप धैर्य रखिये। अब हम समझ[3] गये कि आप हमें केवल चार संहिता रूप मकान में बंद करके अपने माननीय ग्रन्थरूप मकान को ढांकना चाहते हैं। आप जिस आर्य्यसमाज की पोल खोलने के लिये खड़े रहे हैं उस समाज के पण्डित आपके मकान की ओर दृष्टि डाल कर आपकी पोल खोल देंगे यह आपको बड़ा भय है।

आगे जो आपने नियोग विषय में नरदेव शास्त्री का और 'यम-यमी' सूक्त के विषय में पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी और पण्डित सातवलेकर इनकी सम्मति लेकर जो कुछ लिखा है उसका उत्तर बड़ा ही आसानी से मिल सकता है। जो 'यम-यमी'

टिप्पणी (१)—हरगिज नहीं ? हमारे किसी भी ग्रन्थ में तुम्हारे पशु धर्म्म का उल्लेख नहीं।

(२)—क्या कहने स्वच्छता के ? इसी स्वच्छता पर मुग्ध होकर तो पेशावर की अदालत ने और महात्मा गान्धी ने सत्यार्थ-प्रकाश को "गन्दी किताब" होने का सर्टीफिकेट दिया है।

(३) 'गोर में मुर्दा पड़े हूर की सूझी, अन्धे को अन्धेरे में दूर की सूझी'

बलिहारी अनोखी समझ की ! वास्तव में आप खूब समझ गये ! इस अद्वितीय समझ के कारण क्या अब भी आप "नोबलप्राइज" के अधिकारी नहीं ?

सूक्त में बहन-भाई का संवाद मानते हैं वह ठीक नहीं,[1] परन्तु ऋषि दयानन्द, वयोवृद्ध तथा विद्यावृद्ध पण्डित आर्य्यमुनि जी, पण्डित चमूपति जी, पण्डित शेरसिंह जी और आर्य्य पण्डित भीमसेन शर्मा जी इन सब विद्वद्रत्नों ने उक्त सूक्त में यम और यमी इन को पति और पत्नी मानकर विद्वत्तापूर्ण अर्थ कर दिया है। ऋग्वेद-भाष्य, आर्य्य-मन्तव्य-प्रकाश, आर्य्य-सिद्धान्त नियोग मीमांसा, "आर्य्य" पत्र, इन सबों में "यम-यमी" सूक्तका अर्थ पूर्णतया कर दिखाया है और सिद्ध किया है कि "यम-यमी" बहन भाई हो ही नहीं सकते[2]। दुर्जनतोषन्याय से उक्त सूक्त में भ्रातृ भगिनी का संवाद भी हो तो क्या वेद के मन्त्र के

टिप्पणी (१)—जी हां ! हरगिज नहीं हो सकते ! यम यमी को भाई बहिन बताने वाले यास्कमुनि, सायण, उव्वट, महीधर आदि भाष्यकार—डबल शेर चम्पापति और आर्यादीमुन्नी के मुकाबले में कैसे मान्य हो सकते हैं।

टिप्पणी (२)—"वह ठीक नहीं" क्यों ? कुछ कारण भी ? इस. लिये कि दयानन्द के मनघड़न्त थोथे पोथे की धज्जियें उड़ती हैं ? कहिये वेदतीर्थ जी ! आर्यसमाज में निष्पक्षता का कितना मूल्य हैं ? बूढ़े क्षेम-करणदास जी ! आप घर में ही स्वयम्भू बन "त्रिवेदी" बन बैठे ! देखिये आर्यसमाजी तुम्हारे अथर्ववेद भाष्य का कैसा सन्मान कर रहे, सातवलेकर जी ! आप स्वाध्याय मंडल की अंधेरी कोठरी में बैठकर अभी कुछ दिन और स्वाध्याय कीजिये ! और दयानन्द की तरह कुन्द छुरी से वेदों की हत्या करना सीखिये, तभी आर्य्यसमाजी आपको वेदज्ञ मानेंगे ! जिस मत में "मातंगेन खरक्रय:" के अनुसार "विसवानि देव सवितुर" बोलने वाले चमूपति जैसे संस्कृत शून्य पुरुष वेदार्थ के लिये "अथर्टी" माने जाते हों वहा पं० नरदेव जी शास्त्री और प्रो. राजाराम जी आदि विद्वानों का सम्मान कहां !

दो अर्थ नहीं हो सकते[3]। यदि उत्तर दो कि नहीं हो सकते, तो 'भद्रो भद्रया' आदि अनेक वेद मन्त्रों का अर्थ आपके सनातन-के भाष्यकार सायण, महीधर और निरुक्तकार यास्काचार्य जी आदि ने जो किया है उस की कुछ भी परवाह न करके आजकल के सनातनी पण्डित जो अत्यन्त भिन्नार्थ कर रहे हैं वह क्यों किया जाता है ? यदि नवीन अर्थ करना बुरा है तो पहिले आप उक्त बुराई का प्रायश्चित्त करके पश्चात् आप स्वामी जी और उनके अर्थ पर आक्षेप करने का साहस करें। उपर्युक्त आर्य्य-पण्डितों ने "यम-यमी" सूक्त का किया हुआ सम्पूर्ण अर्थ हम यहां विस्तार भय से नहीं दे सकते। यदि आप उक्त ग्रन्थों में "यम-यमी" सूक्त का अर्थ देख लें तो अवश्य ही आपका भ्रम-रूप रोग निवृत्त हो जावेगा। और पं० राजाराम जी का उत्तर भी इसी से समझ लीजिये।

आपने जो सायण की सम्मति उक्त सूक्त के विषय में लिखी है वह उन्होंने "यम-यमी" को बहन-भाई समझकर लिखी है। ऋषि दयानन्द भी "यम-यमी" को बहन-भाई समझकर नियोग परक अर्थ लिखते तो आपका आक्षेप उन पर हो सकता था परन्तु वे तो "यमस्य स्त्री यमी" इस प्रकार इन दोनों को पति-पत्नी समझकर अर्थ करते हैं। इसी लिये उनको दोष लगाने वाला स्वयं दूषित है। शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों में यम और

---

(३) क्यों नहीं हो सकते ? "भद्रोभद्रया" आदि के तो चाहे न भी दो अर्थ हों, परन्तु "शिश्नोदर परायण" महाशयों की तृप्ति के लिये "अन्यमिच्छस्व" के तो चार अर्थ हो सकते हैं ? आखीर मोम के अक्षर ही तो ठहरे ! जिधर चाहो झुका लो।

यमो इन दोनों को बहन-भाई नहीं माना किन्तु ऐसा मानने में अनेक दोष आते हैं।[1]

बहन-भाई का विवाह कहां और कैसा हुआ है यह बात भागवत में स्पष्ट लिखी है। उसी सें आपने **क्रोधरूप निद्रा के स्वप्न में आकर** भागवत का दोष स्वामी जी पर रखा है। इसी लिये हम फिर कहते हैं कि आप ऊपर वाक्य-चोर तो ठहर ही गये हैं, और यहां आकर आप अर्थ-चोर[2] भी ठहर गये। इस आप के पुराणों की दुर्गन्धी[2] को नैरोबी की जनता में आप स्वयं खूब खोलकर सुंघा रहे हैं। देखो आपके भागवत में :—

"यस्तयोः पुरुषः साक्षाद्विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक्।
या स्त्री सा दक्षिणा भूमेरंशभूताऽनपायनी ॥४॥
आनिन्ये स्वगृहे पुत्र्याः पुत्रं विततरोचिषम्।
स्वायंभुवो मुदा युक्तो रुचिर्जग्राह दक्षिणाम् ॥५॥
तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः।
तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयद् द्वादशात्मजान् ॥६॥

(भा० स्क० ४ अ० १)

टिप्पणी—(१) कहां? किस कांड में? कुछ प्रमाण भी! कृपया एक दो दोष तो बता दीजिये!!

(२) हम सिर्फ वाक्य और अर्थ मात्र के चोर नहीं हैं। बल्कि दयानन्दी समाज की बुद्धि को भी चुरा लेते हैं यह बात आपको शास्त्रार्थ के छपने पर विदित होगी जब कि समाज मंदिर में निराकार ही निराकार रह जायगा। (३) सुगंधी या दुर्गन्धी तो आपके आर्य्य-समाज के वे सभ्य ही खूब बताते होंगे, जोकि (आपके—हमारे यहां व्याख्यान में न जाने का प्रस्ताव पास कर देने पर भी) सैकड़ों की संख्या में पहुंचते रहे हैं।

अर्थात्—उक्त भागवत प्रकरण के पूर्व यह बात आई हैं कि स्वायंभु मनु से शतरूपा रानी में तीन कन्यायें उत्पन्न हुई। उनमें से आकूति उन्होंने रुचि को दी। इस रुचि और आकूति से एक पुत्र और एक पुत्री ऐसे दो बालक उत्पन्न हुए। उनमें पुत्र विष्णु का अंश 'यज्ञ' नामक हुआ और पुत्री लक्ष्मी के अंश से 'दक्षिणा' नाम वाली हुई। इन दोनों बहन भाइयों में से 'यज्ञ' पुत्र अपने ननिहार में स्वायंभुव मनु जी के पास रहा और पुत्री अपने पिता रुचि के पास रही। फिर कुछ दिनों के बाद 'यज्ञ' का विवाह अपनी सहोदर भगिनी 'दक्षिणा'[1] के साथ हुआ। उनसे तोष प्रतोषादि बारह पुत्र उत्पन्न हुए हैं।

पण्डित माधवाचार्य जी ! इसको कहते हैं बहन भाई का व्यभिचार[2] ! जब भागवत में ऐसी व्यभिचार की बातें लिखी हैं तब यह दोष पवित्र चरित्र ऋषि दयानन्द पर लगाने से आप लज्जित क्यों नहीं होते ? ऋषि दयानन्द ने तो सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में विवाह विषय के लेख लिखते हुवे स्पष्ट लिख दिया है कि "जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में

टि० (१) मूर्ख समाजी की इस मूर्खता की भी कोई सीमा हो सकती है। जिस दक्षिणा बिना प्रत्येक यज्ञ निष्फल हो जाता है उस यज्ञ और दक्षिणा के वेदानुमोदित जोड़े पर आक्षेप करता है। धर्म्मशास्त्र पढ़िये वहां "हतं यज्ञमदक्षिणम्" कह कर दक्षिणा का यज्ञ के साथ अनन्य सम्बन्ध बताया है।

(२) "अन्धे चूहे थोथे धान" हम पूछ रहे हैं नियोग की वैदिकता आप भाई-बहिन का विवाह ही व्यर्थ कूटते जा रहे हैं।

हो और पिता के गोत्र[1] की न हो उस कन्या से विवाह करना उचित है।"

उक्त स्वामी जी के लेख से यह सिद्ध होता है कि वे माता का छः पीढ़ियों में और पिता के गोत्र में परस्पर विवाह होना बुरा समझते हैं। भला ऐसे महात्मा **प्रत्यक्ष** बहन भाई का विवाह को सम्मति कैसे दे सकते हैं? उक्त सत्यार्थप्रकाश के वाक्य द्वेषान्धता के कारण आपको नहीं दीखे उसमें आपका ही दोष है न कि अन्य का।

आगे आप लिखते हैं कि :—

"स्वामी जी ने ग्यारह पति तक तो कोईं दोष माना ही नहीं, परन्तु यह ग्यारह का हिसाब भी ऐसा वेढब रक्खा है कि असंख्य पुरुषों से भोग करने पर भी ग्यारह खतम नहीं होते—यहां एक से लेकर ग्यारहवें तक नियोग करते समय ईश्वर से ग्यारह और नये मांगे जाते हैं जिसका तांता शैतान की आंत की तरह पूरा नहीं होता।"

सनातनी पं० कालूराम जी ने इस नियोग के हिसाब में जो मूढ़ता दिखाई है उसी का ही अनुकरण अथवा इससे भी अधिक आपने अपने हिसाब की मूढ़ता[2] दिखलाई है। "नियोग मर्दन का विमर्दन" इस पुस्तक के कर्त्ता पं० भूमित्र शर्मा जी ने पं०

टि० (१) क्या आर्य्यसमाज गोत्र भी मानता है, यदि हां! तो 'मां कुम्हारी वाप चमार, वेटे का नाम वेदालङ्कार' उसका क्या गोत्र होगा? और स्त्री हमीदन आप कुद्दु, वेटा साहिव कोरे बुद्धु' कौन गोत्र के ठहरे?

टि०—(१) श्री पं० कालूरामजी के या हमारे हिसाब की मूढ़ता तो दीखे न दीखे, परन्तु वेद के अनन्तार्थकवाचक शत सहस्रादि शब्दों का

कालूराम जी के नियोग विषयक हिसाब की **मूढ़ता को** कई वर्षों के पूर्व ही जनता के सामने **रख दी है** परन्तु अन्ध परम्परावश ही आप भी उस हिसाब की मूढ़ता के खाड़े गिरे हैं। अब हम यहां आप की मूढ़ता को दूर करने का अच्छा उपाय दिखाते हैं। क्या आप क्या हम प्रतिदिन यजुर्वेद के उपस्थान प्रकरण की सन्ध्या में पढ़कर परमेश्वर की प्रार्थना किया करते हैं कि :—

"पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतम्" इत्यादि

अर्थात्—हे परमात्मन् ! हम सौ[1] वर्ष तक देखें तथा सौ वर्ष तक जीवें। इस प्रकार की प्रार्थना करते समय पचास वर्ष की आयु वाला पुरुष अपनी पचास वर्ष की आयु मिलाकर ही सौ वर्ष देखने तथा जीने की प्रार्थना करता है। यहां कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य यह अर्थ कभी नहीं कर सकता कि पचास वर्ष को न गिन कर आगे के लिये सौ वर्ष की आयु, प्रार्थना करने वाला चाहता हो। यदि आपके हिसाब के अनुसार सन्ध्या का अर्थ माना जावे तो आप ही अपने अन्तःकरण की साक्षी से कहिये कि इस समय आपकी जो आयु है उसको सौ में न गिन कर आगे के लिये नए नए सौ वर्ष की आयु क्या आप मांगा करते हैं ? यदि ऐसा है तो आप प्रलय काल तक नहीं

"सौ" अर्थ वताने वाले भूमुत्र जी की और तुम्हारी महा मूढ़ता अवश्य दीख रही है।

(२) दयानन्द ने मनुष्यायुः चार सौ वर्ष तक मानी है, सातवलेकर ने इसका समर्थन किया है, यदि समाजी सौ वर्ष तक ही दृष्टि आदि चाहते हैं तब तो ३०० वर्ष चिरजीवदायमान रहना पड़ेगा।

किन्तु प्रलय में भी जीवित रहने की इच्छा करते हैं? परन्तु आपके भागवतकार तो लिखते हैं कि :—

"अद्य वाऽब्दशतांते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः" ॥३८॥

(भा. स्क. १० अ. १ पूर्वार्द्ध)

अर्थात्—आज वा सौ वर्ष के बाद प्राणियों का मृत्यु होना निश्चित है। इस अर्थ के अनुसार मनुष्य की कुल आयु सौ वर्ष की मानी गई है यह सिद्धान्त है। बस इसी के अनुसार ऋषि दयानन्द ने अपने सत्यार्थ प्रकाश में कुल नियुक्त दश पति माने हैं। उनमें उस नियुक्त स्त्री के पूर्व जो नियुक्त पति हुए होंगे उनको गिन कर ऋषि ने दश की संख्या मानी है। आपके बेढब हिसाब के अनुसार वह दश की संख्या नहीं है।

आप अपने सनातन धर्म के तत्त्व को समझे बिना ही लिखा करते हैं। आपके सनातन धर्म प्रचारक ग्रन्थों में[1] लिखे हुए सनातन धर्म का कुछ नमूना भी सुन लीजिए :—

(राजा पाण्डु कुन्ती को कहते हैं कि)—"पूर्व काल में सब स्त्रियां स्वतन्त्र थीं[2] अर्थात्—जैसा वर्तमान समय में स्त्री पति

टि० (१)—समाजी को जब अपने पक्ष का समर्थन होता नहीं दीखता तो कभी महाभारत की ओर दौड़ता है कभी पुराणों की शरण में जाता है, क्या इस मर्कट-चापल्य से सत्यार्थप्रकाश की वैदिकता सिद्ध हो जायगी? आज तुम सनातनधर्म पर प्रश्न करने नहीं बैठे हो बल्कि सत्यार्थप्रकाश पर किये हुवे प्रश्नों का उत्तर देने बैठें हो। हम तुम्हारे पूर्व किये तीन प्रश्नों का मुंहतोड़ उत्तर दे चुके हैं और खुजली है तो वह भी मिटा लेना!

(२) अफरीका के हबशियों में अभी तक भी ऐसे रिवाज हैं यह भी

के अधीन है ऐसे पूर्व काल में स्त्री किसी पुरुष के बंधन (कैद) में नहीं थी किन्तु स्वेच्छाचारिणी थी ॥४॥ कुंवारेपन (कन्या-वस्था से) से ही पतियों को उल्लंघन करके स्वतन्त्रता पूर्वक विहार करने पर भी इन स्त्रियों को पाप नहीं लगा क्योंकि वह पहिले धर्म था ॥५॥ उस पुराण धर्म को काम क्रोध से रहित पशु पक्षी आदि प्राणी अद्यापि पाल रहे हैं ॥६॥ इस प्रामाणिक धर्म की महर्षि लोग पूजा (सत्कार) करते हैं। उत्तर कुरू में अब भी इस धर्म की पूजा हो रही है। स्त्रियों पर अनुग्रह (मेहर-बानी) करने वाला यह सनातन धर्म है ॥७॥ पुनः कहा है कि :—

"हमने सुना है कि उद्दालक नामक एक ऋषि हुए उनका पुत्र श्वेतकेतु नामक मुनि हुआ ॥६॥ उस श्वेतकेतु ने कोप से यह धर्म मर्यादा स्थापित की। उस श्वेतकेतु को मुझसे तू सुन ॥१०॥ श्वेतकेतु और उस के पिता उद्दालक के सन्मुख एक ब्राह्मण श्वेतकेतु की माता का हाथ पकड़ कर बोला कि हम तुम दोनों गमन करें ॥११॥ ऐसे बलात्कार से माता को ले जाते देख कर क्रोध में आकर पुत्र ने कोप किया ॥१२॥ श्वेतकेतु को क्रोधाविष्ट देख कर महर्षि उद्दालक जी बोले-हे तात ! क्रोध मत कर क्योंकि यह सनातन[1]

किसी देश विशेष जाति विशेष का रिवाज होगा, रिवाज धर्म नहीं हो सकता।

टि० (1)--उद्दालक पुत्र जी को क्रोध करने से वर्जते हैं और क्रोध

धर्म है ॥३॥ हे पुत्र ! जैसे गाय बैल आदि (पशु) सब स्वतन्त्र हैं ऐसे ही पृथ्वी पर सब वर्णों की स्त्रियां भी सब स्वतन्त्र हैं। अर्थात् किसी से घिरी हुई वा बंधन नहीं हैं ॥४॥

(म० भा० आ० प० अ० ११२)

पण्डित जी ! अब आप अपने सनातन धर्म को समझ गये ही होंगे कि उद्दालक अपनी स्त्री का हाथ पकड़ कर अन्य पुरुष बलात्कार से ले जा रहा है तो भी उसको मना इस लिये नहीं करते कि उसको मना करना सनातन-धर्म से विरुद्ध है। कृपया कहिये कि यदि ऐसी बातों से आपका सनातनधर्म भरा पड़ा है तो आप किस मुख से आर्यसमाज के साथ शास्त्रार्थ कर सकते हैं ?

आगे आपने स्वामी जी पर मिथ्या आक्षेप किया है कि इन्होंने व्यभिचार को बढ़ाने में कोई कसर न रक्खी। वे तो बाल ब्राह्मचारी थे[1] और शरीरपात पर्यन्त उनका अखण्ड ब्रह्मचर्य ज्यों का त्यों सुरक्षित रहा है। यह बात उनके विरोधियों ने भी अपने लेखों में मान ली है उनके एक दो नहीं

न करना ही है सनातन धर्म यह समझाते हैं, परन्तु समाजी 'यह' शब्द से बलात्कार का ही सम्बन्ध मिलाता है, वाह रे धूर्त !

टि० (१)–जी हां ! वांकानीर गांव के जवान जिमींदार से "पायु ते शुन्धामि" के अनुसार बचपने से ही गु...भं...करवाना और रमाबाई को "नाक से नाक" का पाठ सिखाना, कुश्ते खाना, अन्त में इन्हीं कुकर्म्मों का प्रत्यक्ष फल भोगना, बाल व्यभिचारी होने का ही तो सूचक है।

परन्तु सैंकड़ों अवतरण दे सकते हैं। वे विस्तार भय[1] से यहां नहीं लिख सकते। स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश में जो वर कन्या की परीक्षा[2] के विषय में लिखा है वह आपको व्यभिचार बढ़ाने वाला मालूम होता है। परन्तु आप अपने सनातन धर्म के ग्रन्थों[3] से यदि परिचित होते तो स्वामी जी पर ऐसा आक्षेप करने का साहस न करते। सुनिये—

"महूर्ते तिथिसम्पन्ने नक्षत्रे चापि पूजिते।
द्विजैस्तु सह वागम्य कन्यां वीक्षेत शास्त्रवित् ॥४॥
हस्तौ पादौ परीक्षेत अंगुलीर्नखमेव च।
पाणिमेव च जंघे च कटिनासो ह एव च ॥५॥
जघनोदरपृष्ठस्तनौ कर्णौ भुजौ तथा।
जिह्वा चौष्ठौ च दन्ताश्च कपोलगलकं तथा ॥६॥

---

(1)—समाजी को विस्तार से बहुत भय है परंतु पिंड छुड़ाने को इतना लिखना काफी नहीं हो सकता।

(2)—"आम्रान्पृष्ठः कोविदारानाचष्टे" हमने वर कन्या की परीक्षा पर कब आक्षेप किया है? वर कन्या के माता पिता आदि सदा से परीक्षा करते हैं। हम तो "गुप्त व्यवहार" (और वह भी स्वयं कन्या) वर से पूछे तथा विवाह से पूर्व वर के लिंग पर शहद लपेटे—इसकी फिलासफी पूछते हैं?

(3)—जिन पुराणों को कोसा जाता है उन्हीं पुराणों के प्रमाणों द्वारा दयानन्दी ग्रंथों की वैदिकता सिद्ध करना चुल्लू भर पानी में डूब मरने के बराबर है।

चक्षुर्नासाललाटं च शिरः केशांस्तथैव च।
रोमराजि-स्वर-वर्णमावर्तानि तु वा पुनः ॥७॥
(भ० पु० ब्रा प० १ अ० २८)

अर्थात्–उत्तम मुहुर्त युक्त तिथि तथा श्रेष्ठ नक्षत्र में ब्राह्मणों को साथ में लेकर शास्त्रज्ञ कन्याको भली प्रकार देखें ॥४॥ हाथ, पांव, अँगुली और नाखून, जंघा, कटि और नासिका की परीक्षा करें ॥५॥ जघन (जंघा) पेट, पीठ और स्तन, कान भुजा, जिह्वा, होंठ, दांत, कपोल (गाल) तथा गल की (कंठ) परीक्षा करें ॥६॥ आंख, ललाट, शिर, तथा केशों को देखे, शरीर के रोम, कंठ का स्वर तथा शरीर का रंग और पेट के बलों (वलियों) को बार २ देखें ॥७॥

अरोमको भगो यस्याः समः सुंश्लिष्टसंस्थितः।
अपि नीचकुलोत्पन्ना राजपत्नी भवत्यसौ ॥३०॥
अश्वत्थपत्रसदृशः कूर्मपृष्ठोन्नतस्तथा।
शशिबिम्बनिभश्चापि तथैव कलशाकृतिः।
भगः श्रेष्ठतमः स्त्रीणां रतिसौभाग्यवर्धनः ॥३१॥
तिलपुष्पनिभो यश्च यद्यग्रे खुरसंनिभः।
द्वावप्येतौ परप्रेष्यं कुर्वाते च दरिद्रताम् ॥३२॥
(भ० पु० ब्रा० प० १ अ० ५)

अर्थात्[1]–जिसकी भग (योनि) रोमों से हीन हो और उसकी सन्धि आपस में श्लिष्टहो वह स्त्री चाहे नीच कुल में भी

टि० (1)–यह सामुद्रिक शास्त्र है–जिस में रेखा चिन्ह विशेषों द्वारा स्त्री पुरुषों का फल कहा गया है, इससे तुम्हारा क्या सम्बन्ध ? क्या आर्य समाज सामुद्रिक मानने लगा है ?

उत्पन्न हुई हो परन्तु राजा की रानी होवेगी, पीपल के पत्र के सामन योनि अनेक प्रकार के सुख देती है, जो योनि तिल पुष्प के समान हो और आगे से खुर से सदृश हो यह दरिद्र करने वाली होती है।

उपर्युक्त भविष्यपुराण के श्लोकार्थ में विवाह के पूर्व कन्या की परीक्षा करना स्पष्टतया लिखा है और सुनिये—

"किमती योषा मर्यतो वधूयोः परिमीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित्॥

(ऋग्वेद १०-२७-१२)

अर्थात्—प्रशंसनीय श्रेष्ठ गुणों से युक्त वधू की इच्छा करने वाले मनुष्य को कैसी वधू अच्छी मालूम होती है? (उत्तर) जो स्त्री कल्याणी सुख देने हारी और सुन्दर रूपवती तथा मनुष्यों में से अपने आप[1] पति को पसन्द कर करती है वह स्त्री पति को अच्छी मालूम होती है।

टि० (1)—महाशय जी बुरा न मानिये, हम यह पूछना चाहते हैं "—कि जब आर्य प्रतिनिधि सभा के सब कुछ "एक" खत्री महाशय की कन्या ने—जिसका भांडा फोड़ घास मांस पार्टियों के विवाद के समय स्वयं समाजियों ने "प्रकाश" और "आर्य गजट" में किया था—गुण कर्म स्वभाव के अनुसार अपने से उत्तम-जन्म से नाई किन्तु एम०ए० पास से विवाह करना चाहा था तब उक्त महाशय ने उसे क्यों रोका था? इसी प्रकार जब नैरोबी आर्य कन्या शाला में यही कांड उपस्थित हुआ था तब आपने इस दयानन्दी वेदसम्मत कार्य को अवैध बताकर कोर्ट के दरवाजे क्यों खटखटाए थे? और बेचारी कन्या के भरी पंचायत में

इस मन्त्र के भावार्थ से वर 'वधू की परीक्षा करें' स्पष्ट है। यह तो हमने ऊपर लिखा ही है कि अपने ग्रन्थों में क्या लिखा है—इस बात को आप, खूब ढांकना चाहते हैं। यदि आप उसको न ढांके तो स्वामी जी पर किये हुए सारे आक्षेप व्यर्थ हो हो जाते। इसी लिये आप हमको केवल संहिताओं का प्रमाण देने का आग्रह बार २ किया करते थे। आप बुद्धिमान् होने से स्वयं समझ चुके थे कि यदि प्रतिवादी अष्टादश पुराणों को खण्डन कार्य में लेगा तो हमारी दशा कठिन हो जावेगी। इस लिये प्रतिवादी ही वादीभयंकर रहा और वादी प्रतिवादी भीरू बन गया। भला उपर्युक्त परीक्षा जिसके मत में लिखी हो उसको स्वामी जी लिखित वधू वर की परीक्षा घृणित क्यों मालूम हुई? यह समझ में नहीं आता। वधू वर की परीक्षा विवाह के पूर्व करनी चाहिये यह बात पारस्करादि गृह्यसूत्रों में तथा उनके भाष्यों में स्पष्ट विदित है। यथा:—

"अथै तौ समीक्षयति" (पारस्कर गृह्य सूत्र भाष्य)

इसी प्रकार मनुस्मृति में भी कन्याके लक्षण देखना कहा है,

"गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥५॥

(मनु० अ० ३)

अर्थात्—स्नातक ब्रह्मचारी गुरु की सम्मति लेकर अच्छे लक्षणवाली सवर्ण भार्या के साथ विवाह करे। उक्त श्लोक

अपने इस कार्य को दयानन्द आज्ञा का पालन चिल्लाते हुवे भी बलात् उसका मनपसन्द पति छुड़ाकर दूसरे वर से विवाह क्यों रचा था? तब यह वेद मन्त्र कहां था?

में कन्या का (लक्षणान्विताम्) यह विशेषण आने से उन लक्षणों की परीक्षा वर को तथा उसके माता पिता और द्विज को अवश्य करनी चाहिये। इसी प्रकार कन्या भी माता पिता की ओर से अथवा (कन्या) अपने आप उत्तम अथवा सदृश पतिको देखकर विवाह करे। जैसा कि—

"त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
उर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्दते सदृशं पतिम् ।।

अर्थात्—पित्रादि यदि कन्या के योग्य वर को कन्या को न देसकें तो वह ऋतुमती कन्या तीन वर्ष तक उत्कृष्ट वर (यदि) न मिल सके तो सदृश वरके साथ स्वयं विवाह कर ले। उक्त श्लोक में भी (उत्कृष्ट) और सदृश वर मिलने से उत्कृष्टता अथवा सदृशता बिना परीक्षा के ज्ञात नहीं हो सकती इससे वधू और वर की परीक्षा दोनों पक्षों के मनुष्य अथवा वधू और वर स्वयं करें यह स्वामीजी का भाव वेदशास्त्रानुकूल ही है।

आगे आप सत्यार्थप्रकाश गर्भाधान विधि पर कटाक्ष करते हुए लिखते है कि:—

"गर्भाधान के समय पुरुष का शरीर ढीला छोड़ना और स्त्री का वीर्य प्राप्ति समय अपने अपान वायुको ऊपर खैंचना योनिका संकोच करके वीर्यंका गर्भाशय में स्थिर करना...योनिसंकोच और प्रसूता स्त्री के स्तनाग्र पर औषधि लेपन..."

स्वामी जी के इस उत्तमोत्तम[1] वेदशास्त्रनुकूल वैज्ञानिक

टि० (1)—वीर्यकर्षण योनि संकोचन को उत्तमोत्तम, वेद शास्त्रानुकूल, वैज्ञानिक" कह कर समाजी ने निर्लज्जता की पराकाष्ठा कर दिखाई,

भावों को द्वेष मूढ़ता के कारण न समझकर आक्षेप किये हैं। वे आपकी वेदशास्त्रानभिज्ञता के द्योतक हैं। देखो—

"अथ यामिच्छेय गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाप्य मुखेन मुखं संधायापानानुप्राणादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥

(शतपथ ब्रा० ॥१। ७। ५। १०)

अर्थात्—गर्भाधान के समय मुखके सामने मुख करके, जनन इन्द्रियसे प्रथम अपना पीछे प्राण क्रिया कर जनन इन्द्रिय से वीर्य को धारण करे। इस विधि से अवश्य गर्भ स्थित हो जाता है। इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ६ ब्रा० ४। ११ पर स्वामी शंकराचार्य जी ने भी इसी प्रकार भाष्य किया हुआ है। संभलो द्वेष मूढ़ता से शतपथकार और सन्यासी स्वामी शंकराचार्य जी पर भी व्यभिचार और कोकशास्त्र के प्रचार का दोष न लगा देना ? हमारे लिये तो शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यकोपनिषद् वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थ हैं परन्तु आप के मत में तो साक्षात् वेद होने के कारण इस विषय पर आज से मुख ऊंचा कर आक्षेप कभी मत करना।

गर्भाधान विधिका मूल[1] संहिता में निम्न लेखानुसार है:—

(१) रेतो मूत्रं विजहाति योनिमिति० (यजु: अ० १६,७६)

(२) मुखं सदस्य शिर इत् सतेन जिह्वा० (यजु: अ०१६,८८)

इन मंत्रों से मुखसे मुख लगाकर तथा अन्य अवयवों से सम्बन्ध कर गर्भाधान मनुष्य करें। गर्भाधान विधि के विषय में चर-

---

टि० (1)—महाशय जी ! संहिताओं में तो कर्म, उपासना और ज्ञान काही मूल हुआ करता है। गर्भाधान का मूल तो और कहीं छुपा रहता है।

कादि वैद्यक ग्रन्थों में सविस्तार विज्ञानयुक्त तथा उत्तम संतानोत्पत्ति के व्यवहारानुकूल लेख लिखे गये हैं। विस्तार भय से हम उन सब लेखों को यहां नहीं लिख सकते। और योनिसंकोच के विषय भी वैद्यक ग्रन्थों में सविस्तर लेख लिखे गये हैं। देखिये:—

मोचरस-सूक्ष्मचूर्णं क्षिप्तं योनौ स्थितं प्रहरम्।
शतवारं सूताया अपि योनिः सूक्ष्मरन्ध्रा स्यात्॥
बब्बूलकुसुमं लोध्रं दाडिमीमूलवल्कलम्।
चूर्णीकृत्य क्षिपेद्योनौ योनिसंकोचनं परम्॥

(धन्वन्तरि-वाजीजकरणाधिकारः)

अर्थात्—मोचरस को बारीक पीस कर योनि में एक प्रहर तक रखे तो सौ बार प्रसूत हुई स्त्री की योनि संकुचित हो जाती है॥"[1]

इस योनि संकोच क्रिया के ऊपर हास्य वा काटक्ष करने वाला मनुष्य 'सांसारिक व्यवहार से शून्य[2] ही होना चाहिए; स्त्रियों

टि० ([1])–धन्य हो! नियोगाचार्य जी! धन्य हो! वास्तव में आपने यहां अपना अनुभूत प्रयोग लिख कर समाजियों पर बड़ा उपकार किया है। समाजियों को चाहिये कि वे इस मोचरस चूर्ण के उपलक्ष्य में म० बालकृष्ण जी को हार अवश्य भेंट करें! क्या हुआ जो इससे योनि संकोचन की "वैदिकता" सिद्ध नहीं हुई। आखिर महाशय जी की "वैद्यता" तो सिद्ध हो ही गई!

([2]) वास्तव में हम सनातनधर्मी ऐसे "सांसारिक व्यवहार (?) से महा शून्य ही है"

के शरीर स्वास्थ्य के लिये यह प्रयोग अत्यन्त उपयोगी होने के कारण ही धन्वन्तरी आदि वैद्यों ने अपने वैद्यक ग्रन्थों में लिख दिये हैं। इन प्रयोगों को हास्यास्पद कहना यह वैद्यक ग्रन्थकारों को मूर्ख ठहराना ही है।

और आपने अपने पूर्व के लेख में नरदेवशास्त्री जी का आगे कर चारों वेदों में नियोग की विधि न होने की दृढ़ प्रतिज्ञा की है वह निम्नलिखित वेद मंत्रों से खण्ड २ की जाती है :—

(१) या पूर्वं पतिं वित्वाथान्यं विन्दते परम्

(अथर्व० ९। ५। २७)

(२) समानलोको भवति पुनर्भुवा परः पतिः।

(अथर्व० ९। ५। २७)

(३) कुहस्विद्दोषा कुहवस्तोरश्वि० (ऋ०)

अर्थात् (१)—जो स्त्री पहले पति को पाकर उसके पीछे (मृत्यु आदि विपत्तिकाल में) दूसरे पति को प्राप्त होती है (इसी प्रकार जो पति पत्नी के मृत्यु आदि विपत्ति में दूसरी स्त्री को पाता है) वे दोनों निश्चय करके सर्वव्यापी परमात्मा को प्राप्त होते[1] हैं।

टि०—([1]) क्यों नहीं परमात्मा को प्राप्त होने का यही तो सीधा रास्ता है! अब तो धारणाध्यान समाधि के झंझट को छोड़कर मुक्ति के लिये स्त्रियों के लिये खसम करना, और पुरुषों के लिये "बैल की भांति गर्भ ठहराना" आपके शब्दों में निश्चय करके बिना सन्देह, बिलाशको शुभह—अवश्य-जरूर परमात्मा की प्राप्ति का सरल साधन है!

(२) दूसरा पति दूसरी बार विवाहित (नियोजित) स्त्री के साथ एक स्थान वाला है[1] इत्यादि। पुनर्भु वा (पुनर्भू दिधिषूरूढ़ा द्विस्तस्या दिधिषु: पति:। सतु द्विजोऽग्रे दिधिपु: सैव यस्य कुटुम्बिनी, इत्यमर:) कोषानुसार स्त्री के अन्य पति को 'पुनर्भू:' अर्थात् 'दिधिषूकहते हैं। इन तीनों मंत्रों की प्रतीकें आपके लिये ही दुर्निवार्य हैं। अन्तिम मंत्र की प्रतीक स्पष्ट करने के लिये ही इस मंत्र के भाष्य में दृष्टान्त देते हुए सायणने तथा निरुक्त में यास्कने लिखा है कि 'को वा शयने विधवेव देवरम्" अर्थात् शयन स्थान वा पलंग पर जैसे मृतभर्तृका नारी पति के भाई को अपनी ओर झुकाती है, उपर्युक्त मन्त्र को मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने भी अपनी नववें अध्याय की टीका में उद्धृत किया है।

यदि आग्रह वश उपर्युक्त तीनों मन्त्रों से आप नियोग न मानें तो आपको पुनर्विवाह मानना ही पड़ेगा[2] तो आपको वह प्रतिज्ञा कहां रही कि पतिव्रता स्त्री आपद्धर्म में भी दूसरे पति को प्राप्त नहीं कर सकती? इन मन्त्र प्रतीकों में भी उभय पाशारज्जु से आप ऐसे बन्धे हैं कि जन्मान्तर में भी नहीं छूट सकते। अब जरा मनुस्मृति भी लीजिए। जैसा कि:—

---

(1) अर्थात्—"पुनर्भु स्त्री और परपति दोनों ही समान=एक ही स्थान 'नरक' के अधिकारी हैं जैसा कि मनु जी ने "शृगालयोनिं प्राप्नोति" (१। ३०) में कहा है। परन्तु समाजी जी को इसमें नियोग दीख रहा है।

(2) क्यों मानना पड़ेगा? जब कि उपर्युक्त प्रतीकों का विधवा-विवाह से अथवा नियोग से अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं, फिर आपका यह प्रलाप व्यर्थ नहीं तो क्या?

पुत्रान्द्वादश यानाह नृणां स्वायंभुवो मनुः ।
तेषां षड् बन्धुदायादा षडदायादबान्धवाः ॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च ॥

भावार्थ–भगवान् स्वायम्भुव मनु मनुष्यों के बारह प्रकार के पुत्र कहते हैं। उनमें छः दायाद अर्थात् मिल्कियत के अधिकारी, और छः मिल्कियत के अनधिकारी होते हैं। औरस, क्षेत्रज, दत्त, और कृत्रिम इन चार पुत्रों में औरस पुत्र से दूसरे नम्बर का क्षेत्रज पुत्र माना गया है। अब आगे क्षेत्रज किसको कहते हैं और किस समय में यह किस विधि से उत्पन्न किया जाता है इस विषय में मनुमहाराज लिखते हैं कि—

"यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ।।"

अर्थात्—मृत, नपुंसक अथवा प्रसव विरोधी रोग से युक्त पुरुष की गुरु नियुक्त भार्या में घृताक्तादि विधि से उत्पन्न हुए पुत्र को मन्वादिकों ने क्षेत्रज[1] कहा है। यहां अपनी कुलीनता को छोड़कर, नियोग के विधायक भगवान् स्वायंभुव मनु को व्यभिचार का प्रचारक न कह देना ? अत्र व्यभिचार और महाव्यभि-

---

टि०–(1) मनु जी ने जिन द्वादश पुत्रों का वर्णन किया है, उनमें "गूढ" (पिता के जीते जी अज्ञात पुरुष से उत्पन्न हुवा) "सहोढ" (जो माता के विवाह के समय पेट में हो) आदि भी वर्णित हैं जो धार्मिक दृष्टि से पतित हैं, इसी प्रकार क्षेत्रज भी ऐसा ही है, दाय विभाग निर्णय में "गूढपुत्र" भी दाय का अधिकारी है, परन्तु क्या इससे वह धर्म संगत माना जा सकता है, इसी प्रकार 'क्षेत्रज पुत्र' मिल्कियत का अधि-

चार किस को कहते हैं उनके नमूने सुन लीजिये ! आपको हम स्मरण दिलाते हैं कि हमने आपके पुराणों के प्रश्नों में निम्न-लिखित श्लोक लिखा है :—

[1]कृष्णो भूत्वान्यनार्यश्च दूषिताः कुलधर्मतः ।
श्रुतिमार्ग परित्यज्य स्वविवाहाः कृतास्तदा ।शि०पु०।

अर्थात्—जिसने किसी की माता, किसी की भगिनी, किसी की पुत्री तथा किसी की स्त्री ऐसी सैंकड़ों गोपस्त्रियों से व्यभि-चार करके उन विचारियों को अपने कुल धर्म से दूषित कर दिया और वेदमार्ग का परित्याग कर सहस्रों स्त्रियों से विवाह किये वे श्रीकृष्ण आपके उपास्य हों और उनकी उपासना करने में आपको तनिक भी लज्जा न आवे वह हमें अत्यन्त आश्चय है । यह हमने भागवतोक्त कृष्ण के विषय में लिखा है, वास्तव में हम तो गीता का उपदेश करने वाले श्रीकृष्ण को मानते हैं । और भी सुनिये ।

आपके पंचम वेद महाभारत आदि पर्व अ० १४० में उतथ्य की स्त्री ममता थी । उतथ्य से गर्भवती उस ममता को उतथ्य के छोटे भाई बृहस्पति ने जा घेरा । एक गर्भ तो स्थित है और दूसरे की तैयारी ! और भीतर बालक एड़ी लगाकर रोकता है । धन्य है महाभारत[1] से वेदों का धर्म यही फैलाया जाता है !

कारी होता हुवा भी धर्मसंगत नहीं कहा जा सकता, दाय का अधिकारी होना वैदिकता का परिचायक नहीं हो सकता (२) इसका उत्तर पहिले शास्त्रार्थ में दिया जा चुका है इसका प्रकृत विषय से क्या सम्बन्ध है ?

टि०—(1) समाजी ने महाभारत की जिस बृहस्पति ममता की कथा को यहां अपनी आदत के अनुसार घृणित रूप में पेश करने का प्रयत्न किया है, वह कथा ऋग्वेद (अ०२अ०३व०१) के दीर्घतमा माम-

भोस्तात ! मा गमः कामं द्वयोर्नास्तीह संभवः ।
अल्पावकाशो भगवन् पूर्वं चाहमिहागतः ॥१५॥

इत्यादि श्लोकों में उक्तार्थ स्पष्ट है। ऐसी घिनौनी शिक्षा से आपको घृणा नहीं आती और आप वेदोक्त धर्म के ऊपर आक्षेप करते हैं तो आपके मत में घिनौनी शिक्षा कौन सी होती है ? यह तो आपके सनातनधर्म के मतानुसार स्त्री और पुरुष के व्यभिचार के नमूने हुए। अब एक सृष्टि नियम विरुद्ध महा व्यभिचार का नमूना सुन लीजिए:—

"उत्सक्थ्या अवगुदं धेहि" (यजु० अ० १३-२१)

अर्थात्—हे वृषन् सेक्तः अश्व महिष्या गुदमव गुदोपरि रेतो धेहि वीर्यं धारय। कीदृश्या:। उत्सक्थ्या: उत् उर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्या सा उत्सक्थी तस्या: कथं तदाह अंजि लिंग संचारय योनौ लिंगं प्रवेशय ! यस्मिन् लिंगे यौनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति भोगाँश्च लभन्ते तं प्रवेशय। (महीधर भाष्यम्)[1]

तेयो जुजुर्वान्दशमे युगे" आदि मन्त्रों में स्पष्टतया लिखी है, जिस का तात्पर्य "जीव की ममता में आसक्ति और ममता के गर्भ में महामोह का निवास बताना है" मालूम नहीं समाजी इस कथा से क्या सिद्ध करना चाहता है ? पाठक विचारें कि समाजी किस प्रकार मूल प्रश्न को न छूकर वायें दायें भाग रहा है।

टि०—(1) आज महीधर भाष्य पर विचार नहीं हो रहा है, किन्तु सत्यार्थप्रकाशादि पर हो रहा है। महीधर भाष्य के अश्लील या यथार्थ कुछ भी ठहरने पर दयानन्दी ग्रंथों की वैदिकता कैसे सिद्ध हो सकेगी ? यह साधारण सी बात भी समाजी की खोपड़ी में नहीं समाती।

भला यह सृष्टि विरुद्ध महाव्यभिचार का भी कहीं ठिकाना है ? उक्त आपके सनातनधर्म के टीकाकार महीधर परम-पवित्र भगवान् वेद को भी कलंकित कर दिया है। जिस सनातनधर्म में शिव, विष्णु, ब्रह्मादि देव, अत्यन्त पवित्र वेद इन पर भी व्यभिचारादि दोष लगाने में सनातनी पण्डितों को लज्जा नहीं आती वे आर्यसमाज के पवित्र वैदिक धर्म को भी कलंकित करने की चेष्टा करें उसमें आश्चर्य ही क्या !

आपने लिखा है कि—"आपने 'देवकामा' शब्द की हत्या करके 'देवृकामा' बनाने का यत्न किया है" इत्यादि।

यहां आपने 'देवकामा' शब्द को हत्या होने से रोदन किया है तो हम आपको आश्वासन देते हैं, उससे अपनी हत्या विषयक शोक दूर कर दीजिए। यही मन्त्र अथर्व० (१४-२-२)और ऋग्वेद (१०-७-८५) इन दोनों वेदों में "अघोर चक्षुषि०" किंचित् पाठ भेद से एकसा ही आया है। अथर्ववेद में "वीरसूर्देवृकामा" यह दोनों पद स्पष्ट हैं। इससे ऋग्वेद में भी "वीरसूर्देवृकामा" ही होना चाहिए। इसीलिए स्वामीजी ने जिस ऋग्वेद संहिता में से यह मन्त्र लिखा है उसमें "देवृकामा" शब्द है। तब यहां 'देवृकामा' की हत्या मान कर आप इतने भयभीत क्यों हुए ? परन्तु आप तो 'प्रतिवादी-भयंकर' अपने को मानते हैं तब आप को 'देवृकामा' पद से भय[1] रखना नहीं चाहिए। और यह बात नहीं है कि केवल ऋषि दयानन्द ने ही यहां (ऋग्वेद में) 'देवृ-कामा' पद माना है किन्तु तटस्थ व्यक्तियों ने भी अपने ग्रन्थों में

टि० ([1]) सनातनधर्मी वेद में अटल श्रद्धा रखते हैं, अतः वे स्वर-वर्ण मात्रा की स्वल्प सी अशुद्धि से भी भय खाते हैं, परन्तु समाजी प्रच्छन्न नास्तिक हैं अतः वेद को तोड़ मरोड़ कर मनमाने सांचे में ढालना उनके बायें हाथ का खेल है।

उसे उसी प्रकार माना है। मि. ह्विटने (Whitney) ने भी निजानुवाद में देवृकामा का ही अर्थ किया है[1] और टिप्पणी (Foot Note) में उन्होंने लिखा है कि पिप्पलाद शाखा में भी पाठ 'देवृकामा' है, हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि निम्न-लिखित वेद मंत्र का पाठ बदल कर आपके सनातन-धर्मीय-ग्रन्थ-कारों ने जो अति घृणित से घृणित पाप किया है वैसा तो इस संसार में किसी ने भी न किया होगा। यथा—

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीरांजननेन सर्पिषा संविशन्तु।
अनश्रवोनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयोर्योनिमग्रे ॥१॥

(ऋ० मं० १०, अ० २, सू० १८)

---

(1)—हमें मालूम नहीं था कि दयानन्दीसमाज सायण उवट मही-धरादि-समस्त आर्ष विद्वानों के सम्मत पाठ को मि० ह्विटने के कहने से झुठलाने की धृष्टता कर सकता है यदि इस प्रकार "ऐरों गैरों" के कथन से वेद के सनातन पाठों का परिवर्तन होने लगा तब तो अनर्थ ही हो जायगा। बुद्धू नानवाई कहेगा कि मेरे दादा की पुरानी बही में 'देवृकामा' पाठ की जगह 'रेवडी कामा' लिखा है जिसका तात्पर्य "रेवड़यों को चाहने वाली अर्थात् रेवडी बनाने वाले नानवाई से नियोग की इच्छा करने वाली' है। नत्थू हलवाई कहेगा कि नहीं जी! हमारे बाप दादा तो "रबड़ी कामा" पाठ मानते थे जिस का अर्थ "रबड़ी को चाहने वाली-अर्थात् रबड़ी बेचने वाले हलवाई से नियोग करने वाली" है। यही क्यों? सेठ कृपण चंद कहेगा कि हम तो यहां "दमड़ी कामा" ही पाठ ठीक समझते हैं, जिसका भाव 'दमड़ी को चाहने वाली' अर्थात् मुझ जैसे दमड़ी की जगह चमड़ी देने वाले कृपण से नियोग करने हारी, है। फिर कहिये कि किस २ का पाठ ठीक मानियेगा?

दूसरा शास्त्रार्थ

कृत्यसार-समुच्चय, निर्णय-सिन्धु और शुद्धि-निर्णय आदि सनातनधर्मीय ग्रन्थकर्त्ताओं ने उपर्युक्त मन्त्र के अन्तिम पद 'योनिमग्रे' के स्थान में 'योनिमग्ने' ऐसा पाठ भेद मान कर उसे सतीदाह के विधान में लगाकर जो असंख्य निर्दोष अबलाओं (स्त्रियों) पर प्राण हरण रूप अत्याचार किया है, उस पाप के भागी न केवल वे ग्रन्थकर्ता ही हैं किन्तु अब तक अन्धपरम्परा से उस (योनिमग्ने) पाठ भेद को मानने वाले समस्त सनातनी लोग भी हैं। सौभाग्य की बात है कि सनातनियों के माननीय सायणाचार्य ने भी उस मनघड़न्त (योनिंमग्ने) पाठको अपने भाष्य में नहीं स्वीकारा है। और न ही उन्होंने इस मन्त्र का भाष्य सतीदाह के विधान में दिया है।[1]

टि० (१) महाशय जी ! यदि "देवृकामा" का कुछ उत्तर नहीं आता था तो साफ ही लिख देते, इस अप्रासंगिक चर्चा का प्रकृत विषय से क्या सम्बन्ध है। यदि वास्तव में कोई कल्पित पाठ हो तो कोई भी वेदानुयायी उसे मानने के लिये वाध्य नहीं किया जा सकता, परन्तु आप तो स्वयं लिख रहे हैं कि सायण ने उसे नहीं स्वीकारा फिर हम पर आक्षेप करने का क्या अधिकार है। आपको यह भी तो विचारना चाहिये था यदि "दुर्जन-तोष" न्याय से मान भी लिया जावे कि "निर्णय सिन्धु" आदि ग्रंथों के लेखकों ने वस्तुतः पाठ परिवर्तित किया है तभी आपको मारे शर्म के डूब मरना होगा क्योंकि कहां पतिव्रत धर्म का आदर्श स्थिर रखने के लिये जीते जी अग्नि में प्रवेश करने की लोकोत्तर विधि ? और कहां आपके गुरुघंटाल की ११×११=१२१ पति तक वे रोक टोक व्यभिचार करके आर्यजाति को कलंकित करने की लज्जाजनक शिक्षा!! दोनों पाठ भेदों की तुलना तो कीजिये एक स्थान में पतिव्रत का महत्व है तो दूसरे वेश्यापन की हद !!!

इसी प्रकरण में आपने लिखा है कि—

"विवाह प्रकरण में वर के मुख से 'देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करने हारी' इत्यादि वाक्य कहलाकर विवाह से पूर्व ही कन्या को व्यभिचार के लिये रजामन्द किया गया।"

यहां भी आपको घबराकर 'अकाण्ड ताण्डव' करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। मनुस्मृति में जिस प्रकार सामान्य धर्म लिखकर विशेष-अर्थात् आपद्धर्म भी लिख दिये हैं उसी प्रकार इस मंत्र में भी वरवधू को सामान्य धर्म का उपदेश देते हुए यदि आपद्धर्म को भी कह दिया है तो उसमें बुराई क्या हुई ? जब नियोग वेद तथा मनुस्मृत्यादि से धर्म माना गया है तब आपत्ति आ जाने पर उसका भी संकेत करा देना अच्छा है। यह ढकोंसला हमारा नहीं किन्तु, आपका ही है। एक अपना सम्बधी मनुष्य प्रवास को जाता है उस समय कोई उसका हितचिन्तक भविष्यत् में आने वाली विपत्तियों से दूर होने के उपाय कह देता है, उसी प्रकार स्वामी जी ने अर्थ करके विपत्ति के कर्तव्य[1] को समझा दिया है। यह सब बातें द्वेषान्धता के कारण हो आपकी समझ में नहीं आतीं यहाँ हमारा क्या उपाय है ?

टि० (१) विवाह के समय कन्या को परपुरुष से मैथुन की आज्ञा देना यदि आपत्ति के ख्याल से "आपद्धर्मोपदेश" है तब तो किसी वेद मंत्र द्वारा विवाह के समय ही कन्या को "लिङ्गवर्द्धन" और "बाजी करण" प्रयोग भी बता छोड़ने चाहिये ताकि भविष्य में पति के "ह्रस्व" होजा ने की आपत्ति में कर्तव्य पालन किया जासके (बोलो वैदिकधर्म की जय ?)

सत्यार्थप्रकाश के किये हुए तीन प्रश्नों में आपका प्रथम प्रश्न नियोग से स्त्री पुरुषों में व्यभिचार फैलाने का काम ऋषि दयानन्द ने किया है इस अभिप्राय का है। परन्तु प्रथम प्रश्न के अन्त में आपने विषयान्तर करके स्वामी जी के यजुर्वेद भाष्य से लेकर जो मंत्र उद्घृत करके आपने अपने प्रथम प्रश्न के साथ मिला दिये हैं, उनका उस प्रश्न के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। केवल जनता के सामने पाण्डित्य दिखाने का हास्यास्पद प्रयत्न मात्र आपने किया है, यदि आपको स्वामी जी कृत उन मंत्रों का अर्थं घृणित मालूम हुआ था तो आप अपने सनातनधर्म के भाष्य-कर्ता उव्वट महीधर की फिलासफी लिख देते परन्तु उव्वट महीधरादिकों ने जो भाष्य किये हैं उन पर आपका विश्वास कहां है ? हमारा तो ऋषि दयानन्द कृत भाष्य पर पूरा विश्वास है[1] यदि ऐसा आपका भी होता तो 'वैदिक रामायण' विषयक 'भद्रो भद्रया' इस मंत्र से सब भाष्यकारों का अनादर करके मनगड़न्त-अर्थं का अनर्थं न करते। इसी प्रकार "कृष्णन्तएम" इस वेद मंत्र का अर्थाभास करके कृष्ण की लीला सिद्ध करने की बाल लीला नहीं करते। इत्यादि बातों से आपका सनातनी भाष्यकार कोई ऐसा शेष नहीं दीखता कि जिस पर आपका पूरा विश्वास हो। अन्यथा "भद्रो भद्रया०" मंत्र से सम्पूर्ण वाल्मीकी रामायण की कथा और "कृष्णन्त एम०" मंत्र से भागवत् के कृष्ण की निन्द्य लीला आप कैसे निकाल सकते ? सुनिये स्वामी जी कृत मंत्रभाष्य पर आक्षेपकों के लिये मुचपेटिका—

टि० (१) बिलकुल झूठ ! यदि स्वामी जी के भाष्य पर समाज का विश्वास होता तो वह अवश्य नियोगशालाएं खोलकर उक्त आज्ञा को कार्य रूप में परिणत कर दिखाता।

यजु० अ० २१-३० इस मन्त्र में आपको **"सरस्वत्यै मेषेण"** इन पदों पर शंका रोग हुआ है और भाषा में जो स्वामी जी ने भोग शब्द लिखा है इस शंका में तो आप यहां आकर कई दिनों से डुबकियां खा रहे हैं। आज हम आपको ऊपर निकाल देते हैं। प्रथम "सरस्वत्यै मेषेण०" इसका उच्चभाव आप नहीं समझे। वाणि के लिये उष्ण दूध का उपयोग करने की परिपाटी अपने देश में सर्वत्र प्रचलित है और यह वैद्यक ग्रन्थ में भी प्रसिद्ध है, गाय, भैंसों आदि के दूध से मेष[1] जाति का दूध अत्यन्त उपयोगी है[2] इसी प्रकार छेरिआदि पशुओं का दूध तथा मूत्र वैद्यक ग्रन्थानुसार पाण्डु रोगादिकों पर अत्यन्त उपकारक है तथा जो 'भोग' शब्द के अर्थ से स्वामी जी के अभिप्राय से विरुद्ध आपने जो अर्थ का अनर्थ किया है वह हास्यास्पद तो है ही इसी प्रकार (वक्तुरभिप्रायदर्थान्तरकल्पना वाक् छलम्) वक्ता के अभिप्राय से अन्य अर्थ की कल्पना करना यह धर्मशास्त्रानुसार पाप माना गया है और उपर्युक्त न्यायोक्ति के अनुसार वाक्छल भी है। इससे आप वाक्छली पूरे ठहर गये पुराणों के देवी देवताओं का व्यभिचार सुन-सुन कर आपका मन इतना तन्मय हो गया कि आप जिधर देखते हैं उधर आपको व्यभिचार ही व्यभिचार दीख पड़ता है। 'भोग' शब्द सुखादि के उपभो-

---

टि० (१) समाजी अवश्य ही बैल बकरे और मैंढे के लम्बित थण का दूध पीते होंगे, क्योंकि मूल मंत्र में 'मेषेण' आदि पुंलिग शब्द पड़े हैं, गाय बकरी भेड़ नहीं, तभी तो वे वावदूकता में अनावश्यक पटु होते हैं।

(२) महाशय जी ! गाय के दूध की अपेक्षा बकरी का, नहीं २ बकरे का दूध बुद्धिवर्द्धक नहीं होता। कभी वैद्यक शास्त्र का अवलोकन भी किया है या यूं ही 'गदहा' बन गये।

गार्थं में आने से उसका प्रकरणानुसार केवल व्यभिचार अर्थ हो तो आजकल आपके मत में (ठाकोरजी को भोग[1] लगाना) इस वाक्य में आप तथा आपके अनुयायी भोग शब्द का उनसे संभोग करना ही अर्थ करते होंगे ? देखो योग भाष्य में आया है "स्यान्नित्यमुक्तोमृतभोगभागी" इस श्लोक में अमृतभोगभागी सामासिक पद आया है। यहा अमृत के सुख का भागी इसके शिवाय दूसरा अर्थ नहीं निकल सकता। इसी प्रकार वृष मेषादि से भोग करे इसका अर्थ उनका अपने सुख के लिए उपयोग करे इसके शिवाय दूसरा अर्थ निकालना आपका स्पष्ट वाक्छल है। यदि आप स्वामी जी के उक्त मंत्र का भावार्थ भी पढ़ लेते तो आपका उसी समय समाधान हो जाता।

"हम में वीर्य को धारण करो" यहां आपने वीर्य शब्द से केवल शुक्र ही अर्थ लेलिया है। धन्य है आपकी बुद्धि को ! कृपया कहिये कि आपके मंत्री जी के पूर्व पत्रों में तथा स्वयं आपने भी ईश्वर की प्रार्थना में "वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि" यह वेद की प्रतीक पढ़ी है। इसका अर्थ करने के लिये आपके सामने आपका कोई भक्त रखें तो "हे परमात्मन् ! तू वीर्य है इस लिये मुझमें भी शुक्र धारण कर" अर्थात् मुझमें गर्भाधान कर, तो

टि०–(१) सनातनधर्मी तो ठाकुर जी 'को' भोग लगाता है, परन्तु स्वामी जी तो बैल, बकरी और मेढा 'से' भो करने की आज्ञा दे रहे हैं। कमी 'को' और 'से' के तारतम्य पर भी विचार किया है, निस्सन्देह भोग शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं परन्तु जब तक मूल में 'मेषेण' =(पुलिंग वाची) शब्द पड़ा है जब तक समाज के हजार प्रयत्न करने पर भी "दूध आदि का उपयोग करे" यह अर्थ मतवाले की बहक के बराबर है।

क्या आपके भक्त तथा आप परमात्मा से अपने में गर्भाधान करावेंगे।

स्वामी जी के जिस मंत्रार्थ पर आप टीका करते हैं वहां वीर्य शब्द सामर्थ्य, पराक्रम, वल[1] इनका वाचक होने से स्वामी जी कृत भाष्य का पवित्र भाव साधारण मनुष्य भी समझ सकता है।

"शरीर में स्तनों की जो ग्रहण करने योग्य क्रिया है उसको धारण करो" यह बात डाक्टर तथा वैद्य लोग अच्छे प्रकार जानते हैं कि मनुष्यों के दोनों स्तनों के अंदर फुप्फुस नामके दो भाग हैं उन्हीं में कफादि विकार बढ़कर भयंकर रोग (न्यू-मोनिया) आदि होकर मनुष्य मरते हैं इस लिये स्तनों की अर्थात्-स्तनान्तरवर्ति फुप्फुस[2] नामक दोनों-छाती के भागों की सुरक्षित रखने की क्रिया अवश्य करनी चाहिये। यह विषय भी वैद्यक शास्त्र के साथ सम्बन्ध रखने वाला है। यह आपकी समझ में कैसा आवे ? आपकी दशा तो यह है कि जहां कहीं स्तन, वा कुच, शब्द आवे वहां भागवत की रासलीला आपके अन्तःकरण में आकर खड़ी हो जाती है उससे आपको स्त्रैण विषय के **शिवाय** और दूसरा कुछ भी सूझ ही नहीं पड़ता।

---

(१) क्यों जी ! आप जब "शिवजी के वीर्य से सुवर्ण उत्पन्न होने पर" आक्षेप किया करते हैं उस समय वीर्य शब्द का सामर्थ्य, पराक्रम वल, अर्थ बताने वाली डिक्सनरी कहां लुप्त हो जाया करती है ?

टि०—(२) "स्तन ग्रहण" का अर्थ यदि स्तनान्तरवर्ती फुप्फुस नामक दोनों छाती के भाग हो सकता है तब तो "महाशय जी हाथीपर सवार हैं" इस वाक्य में "हाथी" शब्द का अर्थ "हाथी शरीरान्तरवर्ती शिश्नेन्द्रिय नामक भाग" भी हो सकेगा ! क्या यह आपको ग्राह्य होगा ?

आगे आपने स्वामी जी के वेदार्थ का अवतरण देकर लिखा कि "हे मनुष्य जैसे बैल गौओं को गाभिन करके पशुओं को बढ़ाता है वैसे गृहस्थ लोग भी स्त्रियों को गर्भवती कर प्रजाको बढ़ावें"

आपका वाक्छल ऊपर हमने प्रकट कर ही दिया है ? फिर यह भी प्रकट कर देते हैं, यह बात संस्कृत का प्रत्येक विद्वान् जानता है कि नीति ग्रन्थों में कुत्ता, गर्दभ, मुर्गा इत्यादि प्राणियों से गुण ग्रहण करना चाहिये तदनुसार यहां स्वामी जी का उच्चभाव[1] आपके क्षुद्रांतःकरण में न समा सका और आप अपनी क्षुद्रता पर ही गये हैं। जिस प्रकार बैल गौके ऋतु समय में हो गाय में गर्भ धारण करता है उसी प्रकार वेदानुयायी मनुष्य ऋतु समय में ही अपनी पत्नी में गर्भाधान करे यही इसका सीधा और सरल उद्देश है।

आपने यजु: अ० १०-३६ तथा यजु: अ० २०-९ के स्वामी जी कृत भाषा भाष्यका अवतरण देकर जो आक्षेप किया है वह आपने हम पर किया है वा अपने आप पर ? सुन लीजिये आपके महीधराचार्य क्या लिखते हैं—

"इन्द्रियं पुंप्रजनम् शिश्नम् स्त्रीप्रजननम् प्रविशत् सत् रेतो वीर्यम् विजह्याति त्यजति योनिप्रवेशादन्यत्र मूत्रं विजहाति (महीधर भाष्यम् अ० १९-७६)

---

(1)—महाशयजी ! यदि स्वामीजी का वास्तव में यह भाव होता तो वह पदार्थ में न सही भावार्थ में तो अवश्य स्पष्ट करते ! क्या झूठी वकालत करके "मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त" वाली कहावत को चारितार्थ कर रहे हो?

"मे आण्डौ वृषणौ आनन्ददौस्तामानन्देन सम्भोग-जनितसुखेन नन्दतस्तौ। तत्सुखभोक्तारौ भवतामित्यर्थः। पसः पसतेः स्पृशतिकर्मणः, इति यास्कोक्तेः, पसोलिंगं भगः सौभाग्यं चास्तु, भगं ऐश्वर्यं सौभाग्यं संपत्तिः, सर्वदा भोगसक्तमस्त्वित्यर्थः"

(महीधरभाष्य २०-६)

वेदवक्ता ईश्वर तो आपके और हमारे मत में एक ही है जब ऐसा है तो प्रथम आप अपने पर यह आक्षेप लेलें कि वेदार्थ सनातन-धर्म-सिद्धान्तानुसार व्यभिचार वर्धक है। क्योंकि आपके भाष्यकार महीधरने भी स्वामी जी जैसा ही अर्थ किया है। किन्तु हमारे मत में तो उक्त वेद मन्त्र की शिक्षा सृष्टि नियमानुसार अपने सब कृत्यों को सुधारने की और समझने की है। आगे आपने ऋषि दयानन्द और रमाबाई के पत्र व्ययहार से संदेह में आकर डुबकी खाई है। इस विषय में हम आपसे स्पष्ट कहते हैं कि यदि उक्त दोनों व्यक्तियों के विषय में कुछ निन्द्य व्यवहार का निश्चित प्रमाण[1] हो अवश्य जनता के आगे रखदें। अन्यथा आप स्वामी जी जैसे परोपकारी महात्मा के निन्दक ठहरे बिना न रह सकेंगे।

टि०—([1]) हमने रमा और दयानन्द का सप्रमाण पत्र-व्यवहार लिखा था, समाजी जब इस नग्न सत्य को झुठलाने का मार्ग न पा सका तो निरुपाय होकर हमें जनता में उसके सुनाने का अधिकार देने लग पड़ा, परतु प्रश्न तो यह है कि यदि यह गलत है तो इसका खंडन कीजिये, या साफ़ शब्दों में स्वामीजी को मनूक्त 'अष्टविध मैथुन, के अनुसार गुह्य भाषण के कारण व्यभिचारी मानिये।

द्वितीय प्रश्न[1] (का उत्तर)

[2]आपने द्वितीय प्रश्न के आरम्भ में जो वेदमंत्रों की प्रतीकें देकर उनका माँस निषेधक अर्थ दिखाया है वह हमको तो सर्वथैव मान्य है परंतु आपको नूतन सनातन धर्मानुसार माननीय नहीं हो सकता। यह द्वितीय प्रश्न के उत्तर में हस्तामलकवत् हम सिद्ध कर देंगे, इस लेख में मजा तो यह है कि ऋषि दयानंद को बांधने के लिये मांस भक्षणरूप जो जाल आपने फैलाया है

टिप्पणी–(1) जब समाजी से हमारे अटल प्रश्नों का उत्तर नहीं बना तो इतना घबड़ा गया कि दूसरे और तीसरे प्रश्नोत्तर के शीर्षक में 'उत्तर' शब्द न लिखकर केवल 'प्रश्न' ही लिख बैठा, पाठक इस समस्त लेख को पढ़कर सहज में ही अनुमान लगा सकेंगे कि समाजी ने उत्तर देने के बजाए वास्तव में हम पर किये नये २ प्रश्न ही हैं, जिनका संक्षिप्त उत्तर हमारी टिप्पणियों में मिल जायगा, परन्तु हमारे प्रश्न ज्यों के त्यों समाज के शिर चढ़े हैं। है कोई माई का लाल ! जो दयानन्दी ग्रंथों की वैदिकता सिद्ध कर सके !!

(2)–पाठक दूसरे और तीसरे प्रश्न के उत्तर में समाजी की लेख सम्बन्धी भयंकर भूल पायेंगे हमने उन भूलों को ज्यों का त्यों मोटे टाइप में छाप दिया है, जब यह लेख हमें प्राप्त हुआ तो हम स्वयं आश्चर्य में पड़ गये कि–गुरुकुल आंध्र के गवर्नर और दयानन्द शताब्दी पर आर्य-विद्वत्परिषद् के सभापति बनने वाले पुरुष के लेख में इतनी अशुद्धियें क्यों ? पूछने पर विदित हुआ कि यह लेख म० मणिशंकर शास्त्री की कलम का कमाल है, पाठक सोचें ! जिस सभा के महोपदेशक और स्वयंभू शास्त्री इस प्रकार लंठाधिराज हों वहां साधारण पुरुष किस

उस में स्वामीजि तो निर्लेप नीकल जाते हैं। परंतु आपतो नख शिखांत जकड कर ऐसे बांधे गये हैं कि जिस से छूटने की आप को आशा निराशा ही रहेगी। आपने इस द्वितीय प्रश्न में जो सत्यार्थप्रकाश की प्रथमावृत्ति[1] के अवतरण दिये हैं[2] वे स्वामिजि ने द्वितोया वृत्ति में नीकाल शोधकर सब ठीक ठीक कर दिये हैं हम आपके प्रथम प्रश्न के उत्तर में आपकी चोर लीला दिखा आये हैं। प्रथमावृत्ति के **आपने** दिये हुए सब प्रमाण निकम्मे

भांति के होंगे यह निराकार ही जानें !–मुंबई प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभा ने उक्त "शा-सुतरी" जी को अपने सब उपदेशकों में श्रेष्ठ समझ कर ही अफरीका तक भेजने का प्रयत्न किया होगा ! इससे शेप उपदेश-कों की योग्यता का भी खासा पता लग सकता है, किसी ग्राम्य कवि ने ऐसे ही पंडित पुंगवों को लक्ष्य करके निम्नलिखित श्लोक कहा है–

बड़ा धोता बड़ा पोथा, पंडित पगड़ा बड़ा,
अक्षरस्य गतिर्नास्ति, लण्ठराज ! नमोऽस्तु ते।

टि०–(1) "अन्धा गुरु लालची चेला, दोनों नरक में ठेलमठेला" इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर देने में तो महाशय जी ने विरजानन्द को भी मात कर दिया। पाठक हमारे प्रश्न को पढ़ें ! हमने सत्यार्थप्रकाश पर मांस भक्षण प्रतिपादन का जो दोष लगाया है, उसका मुख्य प्रमाण सत्यार्थ-प्रकाश की सप्तमावृत्ति का दिया है जो कि अभी तक छपने वाली आवृत्तियों में भी तथैव छपा है, परन्तु पाठक इस उत्तर को अन्त तक पढ़ डालने पर भी हमारे मुख्य प्रमाण का स्पर्श तक नहीं पाएंगे, केवल प्रमथावृत्ति प्रथमावृत्ति कूटते पीटते ही "इति" हो जायगी ! क्या यह अन्धपरम्परा नहीं ?

जिन वाक्यों से ठहर जाते हैं उन स्वामिजि के वाक्यों को फिर सुन लीजिये।

सत्यार्थप्रकाश द्वितीयावृत्ति की भूमिका के प्रथम पैराग्राफ के अन्तिम दो वाक्य निम्न लिखानुसार है "प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है। हां जो प्रथम छपने में कहीं २ भूल रही थी, वह नीकाल शोधकर ठीक २ करदी गई है" इन वाक्य से स्वामी जि स्पष्ट कह रहे हैं कि प्रथम छपने में कहीं २ भूल रही थी वह नीकाल शोध कर ठीक २ कर दी गई है। इस उनके लेख से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि द्वितीयावृत्ति में स्वयं उन्होंने जो वेद विरुद्ध मृतश्राद्ध मांसभक्षण आदि भूलें[1] छपने में रह गई थी वे नीकाल कर शोधकर ठीक २ कर दी हैं। इस लिये प्रथमावृत्ति के लेख को लक्षमें धर कर आपने जितने आक्षेप श्री स्वामी जि पर किये हैं वे पर स्वामी जि को यत् किंचिद् भी वाधक नहीं हो सकते। इस लिये उन आक्षेपों का समाधान करने का भार हमारे शीर से निकलकर आप के शर पर चढ़ बैठा है, जो मांस भक्षण के विषय में आपने आक्षेप किये हैं वे सब आपके माननीय ग्रन्थों में भरे हुए पड़े हैं। स्वामी जि ने तो उन को वेद विरुद्ध मान कर उनका निरादर ही किया है। अब आप सम्भालिये।

राजा हरिश्चन्द्र ने वरुण के लिये की हुई मन्नत के अनुसार

---

(1)—समाजी की इस कपोल कल्पना की कलई पीछे खोली जा चुकी है।

दे० भा० के षष्ठस्कंध अ १३ में नर मेध का स्पष्ट विधान है (पुरुष को मार कर यज्ञ में आहुति देना[1]) यथा:—

प्रार्थनीयस्त्वया पुत्रः कस्यचिद्द्विजवादिनः ।
द्रव्येण देहि यज्ञार्थं कर्तव्योऽसौ पशुः किल ।।१३।।

महाभारत में भी लीखा है किः—

राज्ञो महानसे पूर्वं रंतिदेवस्य वै द्विज ।
द्वे सहस्त्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं तदा ।।
अहन्यहनि वध्येते द्वेसहस्त्रे गवां तदा ।
समांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः ।।

(महाभारत वनपर्व अ. २०७ श्लोक ८.९)

भावार्थ— पहिले जमाने में रंतिदेव राजा की पाकशाला में दो हजार पशु प्रति दिन घात किये जाते थे, और दो हजार गौओं का भी घात होता था मांस के साथ अन्न देते हुए रंति देवका बड़ा अतुल यश हो गय था ।[2]

टि०–(1) राजा हरिश्चन्द्र के यज्ञ में किसी भी नर को नहीं मारा गया । वहां स्पष्ट है कि जिस शुनः शेप को यज्ञ में पशु (समान द्रष्टा) किया गया था वह जीवित ही रहा । इसके अतिरिक्त यही कथा इसी रूप में ऋग्वेद में भी आती है यथा–"शुन.शेपो ह्यव्रदग्रभीतस्त्रिप्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः (ऋ० अ० १ अ० २ व० १५ मं० ३) फिर वेद लिखित आख्यायिका के पुराण वर्णित अनुवाद पर आक्षेप करना नास्तिकता नहीं तो और क्या है ?

टि०–(2) यहां रंतिदेव की अतिथि सेवा मात्र की प्रशंसा अभिमत है न कि मांस भक्षण की, जैसे वर्तमान समय में यदि महाराज पंचम

अब मनुस्मृति के श्राद्ध प्रकरण में लिखा है कि

द्वौमासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान्हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥अ०२३॥

इत्यादि श्लोकों में मृत पितरों के लिये मछली, सुवर, हिरण महिष इत्यादि अनेक पशुओं के माँस का विधान लिखा है सनातनीयों के विचारे मृत पितरों ने जिन मांसों को जीवित दशा में स्वप्न में भी न सुना होगा उनके लिये मछली आदि प्राणीयों को मार कर उनका मांस यमलोक में पहुंचाया जाय तो उसको देखकर उनकी क्या दशा होगी उसकी कल्पना ही करनी चाहिये। जो ब्राह्मणादि वर्ण मांस का नाम लेना भी अच्छा नहीं **समजते** उनकों उक्त मछली आदि प्राणीयों को मार कर

जाजं अद्वितीय अतिथि सेवक हों तो वे भोजन तो अपने देशाचारानुकूल ही पकावेंगे, परन्तु "अतिथि सेवा" अंश में वे प्रशंसापात्र अवश्य होंगे, इससे भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी अटल सिद्धान्त में परिवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि ऐतिहासिक व्यक्तियों का आचरण सर्वांश में धर्म निर्णायक नहीं होता। वेद पाठी रावण का परस्त्रीस्तेय, युधिष्ठर का द्यूत, यदुवंशियों का मद्यपान ऐतिहासिक तथ्य होता हुआ भी उक्त पापाचारों को धर्म संगत नहीं बना सकता ! इसी प्रकार रंतिदेव या अन्य किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के आचरण से अधर्म को धर्म नहीं माना जा सकता, परन्तु महाशय जी ! आप क्या सिद्ध करना चाहते हैं यह भी तो पता लगना चाहिपे, क्या इस उद्धरण से आपका यह तात्पर्य है कि सत्यार्थ-प्रकाश लिखित गोमांस भक्षण ठीक है ? क्योंकि रंतिदेव के यहा ऐसा होता था, यदि हां ! फिर तो आप के लिये संसार में कुछ भी पाप शेष नहीं रहेगा,

उनका मास पितरों को पहुंचाना और स्वयं खाना पडता यह कैसा बूचड़ खाना है।[1]

अब जिन पुराणों के एक २ अक्षर वेदानुकूल सिद्ध करने के लिये आप यहां आये हैं उनमें शराब और मांस की लीला सुनिये।

क्योंकि इतिहास से तो परस्त्रीस्तेय द्यूत क्रीड़ा और मद्यपान के उदाहरण मिल जावेंगे, क्या आप महाभारत में रंतिदेव मांस भक्षण की प्रशंसा दिखा सकते हैं ? नहीं तो फिर इस उदाहरण से आपका क्या बना ? हन् को वध आदेश होता है वह अन्तस्थ होता है यहां पवर्गीय 'बध' बध वन्धने, की क्रिया है जिसका तात्पर्य बान्धना है, मारना नहीं है, योगी महात्माओं को हरवक्त गायका धारोष्ण दूध मिल सके एतदर्थ वहुत गाय बंधी रहती थी यह तात्पर्य है।

टि०—(१) मनूक्त "द्वौ मासौ" आदि श्लोकों में सात्विक भोजन की प्रशंसा का अपूर्व पक्ष है, उपसंहार में मनुजी ने स्वयं इस बातका स्पष्टीकरण कर दिया है यथा—"आनन्त्याय कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः" (४।२७२) अर्थात्-यव, चावल, आदि सात्विक अन्नों से पितरोंको अनन्त काल तक तृप्ति होती है, यहां मांस से अधिक से अनिक बारह वर्ष की तृप्ति कह कर "मुन्यन्न" से अनन्त तृप्ति कहना सात्विक भोजन की प्रशंसा करना स्पष्ट है। मनु जी ने स्पष्ट शब्दों में श्राद्ध में न केवल मांस मद्य आदि का अपितु तामस अन्नादि का भी सर्वथा निषेध कर दिया है यथा—यक्षरक्ष-पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्। तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नताहविः (११।९५) अर्थात्—यक्ष राक्षस पिशाचों का अन्न तथा सब प्रकार की मद्य और मांस श्राद्धादि में ब्राह्मण को नहीं खाना चाहिये।

पुष्पैर्धूपैस्सनैवेद्यैर्मांसमत्स्यसुरासवैः ।
पश्चात् संपूजयेद्देवीं चामुण्डां भैरवप्रियाम् ॥

भावार्थः-भैरव की प्यारी चामुण्डा देवी की पुष्प, धूप, अन्न, मांस, मछली सराब आसव आदि से पूजा करे।

आगे इस पुराण में[1] श्रीकृष्णचन्द्र युधिष्ठिर से कहते हैं कि—

तस्मात् पूज्यो नृपश्रेष्ठ प्रथमं वाचको बुधैः ।
अन्नं चापि यथा पक्वं मांसं च कुरुनंदन ।
दातव्यं प्रथमं तस्मै श्रावकैर्नृपसत्तम ।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत (७-५-७) में भी 'न दद्यादामिषं श्राद्धे' कह कर श्राद्ध में मांस वर्जित किया है। प्रत्यक्ष में भी कोई सनातन धर्मी श्राद्ध में मांस ग्रहण नहीं करता। समाजी को इतना भी ज्ञान नहीं कि मीमांसा आदि ग्रन्थों के निर्णयानुसार मन्वादि धर्मशास्त्रों में जो माँस सन्वन्धी पूर्वपक्ष लिखा है, वह विधि नहीं किन्तु "परिसंख्या" से निषेध है। अथर्ववेद के श्राद्ध प्रकरण में भी मनुस्मृति के समान ही मांस की परिसंख्या लिखी है यथा—यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते (१८। ४। ४२) समाजी ने पूर्व पक्ष का श्लोक उद्धृत करके अपने छल कपट का खूब परिचय दियो है, इससे सत्यार्थप्रकाश वर्णित नरमांस भक्षण विधि की वैदिकता कदापि सिद्ध नहीं हो सकती ! समाजी को उत्तर कुछ सुझता नहीं उल्टा हम पर प्रश्न करता जा रहा है। जिसे इतनी भी समझ न हो कि मैं उत्तर देने वैठा हूं वा प्रश्न करने वे लोग दयानन्दी गुरुकुलों के गवर्नर बना दिये जाते हैं।

(१) किस पुराण में ? कुछ नाम पता तो लिखा होता।

भावार्थः—श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे कुरुनंदन ! चाहे पका हुआ अन्न अथवा माँस हो सेवकों को चाहिये कि पहिले कथा-वाचक को दें इत्यादि। इसी प्रकार मानव-धर्म सूत्र, गृह्य तथा श्रौतादि सूत्र, इनमें मधुपर्क में गाय मारकर उसका माँस अतिथि को देने का लिखा है और अथर्व वेद के भाष्य में सनातन धर्म के भाष्यकार सायण ने लिखा है कि यदि वशा अर्थात् बंध्या गौ घर में हो तो तीन वर्ष तक अपने घरमें रखे, स्वयं उसको न मारे। तीन वर्ष बीत जाने पर वह वन्ध्या गौ ब्राह्मणों को देदी जाय फिर वे ब्राह्मण उसको मारकर उसके मांस से देवों का पूजन करें (अथर्व कां० १२-८-१५)

कहां तक कहें यदि अष्टादश पुराण, उपपुराण, महाभारत, सूत्रग्रन्थ और ब्राह्मणग्रन्थ इन सबों में से चुन चुन कर प्रमाणों को हम निकालें तो लिखते लिखते हमारे हाथ थक जायंगे, हमारे दवात की शाही खत्म हो जायगी, और कलम घीस जायगी। मांस शराब और व्यभिचार आदि घृतिण बातें उक्त ग्रन्थों[1] में यत्र तत्र भरी पड़ी हैं। हम वेदानुयायी आर्य लोग तो वेद को स्वतः प्रमाण मानने वाले होने से तथा इन आई हुई घृणित को प्रक्षिप्त मानने से उक्त दोषों से अलिप्त रह जाते हैं परन्तु पं० माधवाचार्य जि ! आप के मत में शतपथादि ब्राह्मण और अरण्यकादि ग्रन्थ वेद ही माने जाते हैं। इसलिए उक्त दोषों का परिहार कर ऋषियों को इन घृणित आक्षेपों से बचाकर ऋषि-ऋण अदा कीजिये।

–टि०(१) समाजी ने बिंना ही पते मानव-धर्म-सूत्र, गृह्य-श्रौत-सूत्र तथा पुराणादि का नाम लिखकर धोखा देने की चेष्टा की है जो सर्वथा झूठ है।

इसलिए आपने जो मांस-भक्षण का दोष कई आर्य समाजियों पर लगाया है, वह आर्यसमाज के वैदिक सिद्धान्तों का दोष नहीं किन्तु वह सनातन धर्म के अनुसारी पुराण ग्रन्थों के कुसंस्कारों का ही फल है। क्योंकि वे प्रथम सनातन धर्म में रह कर ही आर्य बने हैं[1]।
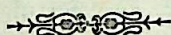
तृतीय प्रश्न

आपने गर्भाधान से शिक्षा देने के विषय में जो आक्षेप किया है वह बिलकुल निर्मूल है। आपको गर्भाधान विषय में वैद्यक ग्रन्थ में[2] क्या लिखा है इसक बिल्कुल परिज्ञान नही है यह सिद्ध हो गया। देखिये !

टि०–(1) समाजी ने द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हुए हमारे निम्नलिखित प्रश्नों को छुवा तक नहीं—

[१[नरमांस भक्षण (स० प्र० पृष्ठ २८७)। [२] पशु हनन (यजुः १३। ४८) [३] नील गाय वध (यजुः १३। ४६)। [४] मांस हवन और भक्षण (१६। २०) [५] मांस पकाने की विधि (मां० भो० विचार पृष्ठ ८६, १७)। [६] मांस पार्टी का मांस समर्थन (प्रत्यक्ष) [७] समाज मन्दिरों में गोमांस भक्षण ("आर्यमित्र" आगरा शताब्दी अंक पृष्ठ १२३)

(2)–गदहानन्द जी ! शास्त्रार्थ "वेदानुकूलता" पर हो रहा है "वैद्यक ग्रंथानुकूलता" पर नहीं !

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ।।६५।।
(भावप्रकाश १-२-६५)

(समुपेयातां—संयोगं गच्छेताम्)

भाषा—जैसे चेष्टा तथा आचरण से स्त्री पुरुष मैथुन करते हैं उसी प्रकार की चेष्टा वाले उनके पुत्र भी होते हैं।

पंडित **जि! समजे**[1] इसी का नाम है गर्भाधान से संतान को शिक्षा देना, अतः आज से **बीना समजे बुझे** आप ऐसा न लिख दिया करें। आपने जो युवा अवस्था में मनुष्य सृष्टि उत्पन्न होने के विषय में तीन प्रश्नों की प्रतिज्ञा को तोड़ कर जो लिखा है उसका उत्तर इतना ही है कि, युवा अवस्था में मनुष्य सृष्टि उत्पन्न होना सम्भव है अन्य अवस्था में उत्पन्न होना असम्भव है।[2] इस विषय में सत्यार्थप्रकाश में शंका समाधान पुरःसर लिखा है वह पर्याप्त है।

शिखा के विषय में आपने जो आक्षेप किये हैं वे भी निर्मूल है, जैसे :—

टि० (१)—पाठक यहां से आरम्भ करके अन्त तक जरा भाषा की छटा भी देखें ! आन्ध्र गुरुकुल के गवर्नर जी बिल्कुल "गोवरनर" ही बन गए, शायद गहरी छानकर लिखना आरम्भ किया है। तभी तो द्वितीय श्रेणी की कन्याओं के लेख को भी मात कर दिखाया है। जिस "गुरुकुल" के 'गोवरनर' की इतनी योग्यता हो ! फिर वहाँ के "शूनी-तकों" का क्या हाल होगा यह निराकार ही जाने।

(२) क्यों ? क्या आपका वाक्य ही वेदमंत्र मान लिया जावे ?

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव। इत्यादि
(यजु. १७ ४८)

भाष्य—कुमारा विशिखा इव विगता शिखा येषां ते विशिखाः—शिखारहिता मुण्डितमुण्डा इत्यादि (महीधर भाष्य) युद्ध विषयक दृष्टांत देते हुए वेदमन्त्र में लिखा है कि कुमार जिस प्रकार शिखारहित मुण्डित मुण्ड होते हैं इत्यादि।

यहाँ वेदमन्त्र तथा महीधर भाष्य से कुमारों का शिखा-रहित होना स्पष्ट सिद्ध है। इसी वेद के भाव को लेकर मनु-स्मृति में भी लिखा गया है कि:—

मुण्डो वा जटिलोवा इत्यादि इत्यादि (मनु अ. २-२१९)

उक्त श्लोक में मनुजि ने ब्रह्मचारियों के लिए लिखा है कि वह चाहे सब शिर में बाल रखकर जटिल बनें अथवा बिलकुल मुण्डा दें।[1]

आपने अंधे सांप और कुटिल सांपों के विषय में जो स्वामी-**जि** के भाष्य की **असम्भवता** दिखलाई है, वह भी आपकी विचार शक्ति की न्यूनता ही है। **उसका** भाव स्पष्ट है कि उक्त **झह**रीले सर्पों को इधर उधर विचरने न देकर उसको **पकड़े** वे इधर उधर विचरें तो जलादि पदार्थों में अपना विष **फै**ला सकते हैं। यह इसका सरल भाव है।[2]

सि०—(1) हम पूछ रहे हैं गरम देश निवासी स्त्रियों तक के मुंडन कर देने की वैदिकता! समाजी मुंडन संस्कार संस्कृत बालकों का दृष्टान्त दे रहा है, खूब उत्तर हुवा!

टि० (2)—जी हां! भाव तो ठीक सरल है परन्तु इसे अमली जामा पहिनाना बहुत टेढ़ा है, जरा गुदा से इन सांपों को पकड़ कर तो देखिये!

आगे आपने "घोड़े की लीद से तुझको तपाता हूं" इत्यादि इस विषय में जो आक्षेप किया है उसमें असम्भवता कौन सी है? यह एक विज्ञान की बात है कि, घोडेकी लीद की धूप देने से वा लीद तापने से बात रोग[1] भी दूर हो जाता है।

वैश्य को ऊंट, शूद्र को बैल तथा नौकर को खच्चर की उपमा श्रीस्वामी जि ने दी है[2] ऐसा आक्षेप जो आपने किया है वह भी निर्मूल है। संस्कृत साहित्य ग्रन्थ में ईमानदार पुरुष को कुत्ते की उपमा दी है[3]। तो क्या पुरुष कुत्ता हो गया। उपमा का हेतु यह है कि वैश्य सच्चा वोंही है जो ऊंट के समान देश देशान्तर में प्रवास के परिश्रम से नहीं थकता। शूद्र भी वोही है कि जो बेल के समान न्यूनाधिक बोझा न गिनकर अपना कर्तव्य करते ही चला जाता है। नौकर सच्चा वह है कि जिस प्रकार खचचर चाहे इतना भार आदि का दुःख उठाने पर भी पीछे नहीं हटता और जिस प्रकार सुवर यु तो गरीब दीखता है, परन्तु उसे जब कोई छेडे तो वह प्राण जाने तक भी पीछे नहो हठता। इसी प्रकार राजा यु तो चंद्र के समान सब को सुखकर है परन्तु यदि दुष्ट डाकू चोरादि उसकी प्रजा को दुःख दे तो उनके लिए वोही राजा सुवर की समान क्रूर है। मनु-

---

(1)--गदहाजी! हम बात रोग का नुस्खा नहीं पूछ रहे हैं! किन्तु लीद से तपा कर "यज्ञ सिद्धि" हो जाने की फिलासफी पूछते हैं!

(2)--समाजी ने वैश्य आदि का ऊंट होना स्वीकार करके उनका खासा सन्मान किया है।

(3)---किस ग्रन्थ में?

स्मृति में भी इसी अभिप्राय से राजा को सूर्य, चन्द्र, वायु आदि की उपमा दी है। वहां भी यही अभिप्राय है कि उपर्युक्त पदार्थों के प्रसंगानुसार भिन्न २ गुणों को धारण करने से राजा इन अष्ट दिग्पालों[1] का अंश कहा जाता है।

निष्कर्ष (१)

यह हमने आपके सत्यार्थप्रकाश पर किये हुए तीनों प्रश्नों का उत्तर ऊपर लिखे अनुसार दे दिया है। वह आप की **समज में** ठीक आ जावे इस लिए कुछ निष्कर्ष रूप से लिख देते हैं।

आपने प्रथम प्रश्न में नियोग को व्यभिचार बढ़ाने वाला कहा है। **आपने** अष्टादश पुराणों के कर्त्ता महर्षि व्यास और राजर्षि भीष्म ने उसको धर्मानुकूल होने से वैदिक माना है। इसी प्रकार पाण्डु राजा भी **उसको** वेदानुकूल धर्म **समज कर** ही अपनी पत्नी कुन्ती को **उपदेश किया है** और कहा है कि पुरुष की आज्ञा होने पर पत्नी यदि नियोग न करे तो वह दूषित होती है। इससे आपके मतानुसार भी नियोग धर्मानुकूल ही ठहरता है। फिर उस पर आपकी शंका क्यों होनी चाहिए? स्वा**मिजि** के सिद्धान्तानुसार वेदादि शास्त्रों से हमने नियोग को साफ धर्मानुकूल अपने लेख में सिद्ध कर दिखाया है।

(२)

सत्यार्थप्रकाश के दूसरे प्रश्न में आपने स्वामी जि पर मांस भक्षण **के** प्रचारकता का मिथ्या आक्षेप का किया है। परन्तु

टि०---([1]) बलिहारी ! सिद्धि करने चले थे, सत्यार्थप्रकाश की वैदिकता मान बैठे अष्टदिग्पालों को !

स्वामी जी ने अपनी विद्यमानता में ही संशोधन की हुई सत्यार्थ-प्रकाश की द्वितीयावृत्ति में उन वेद विरुद्ध प्रमाणों को निकाल कर ठीक २ कर दिया है[1] अतः इस विषय में इन पर वैसा आक्षेप करना निर्मूल है। माँस भक्षण के जितने प्रमाण आपने स्वामी जी के लिए लिखे हैं, वे सब आपके ही शिरोभूषण बने हैं। स्वामीजी ने तो उक्त मांस भक्षण **को प्रमाणभूत संहिता रुप वेद से** विरुद्ध देख कर द्वितीयावृत्ति से निकाल दिये हैं।

(३)

सत्यार्थप्रकाश के तृतीय प्रश्न में **असम्भव** दोष के नाम अपनी प्रतिज्ञा को भूल कर एक प्रश्न के बदले अनेक प्रश्न कर दिए हैं। फिर भी हमने उन सबों का उत्तर अपने लेख में सप्रमाण दे दिया है।

आपका हितैषी

बालकृष्ण शर्मा

टि०–(१) विरजानन्द के पौत्र जी ! हमने मांसभक्षण की पुष्टि में जो मुख्य प्रमाण पेश किया है वह तो "अभी तक सत्यार्थप्रकाश में छप रहा है, आप "संशोधन की हुई द्वितीयावृत्ति का"–बेसुरा राग अलाप रहे हैं।

पाप की पराकाष्ठा !

पत्र व्यवहार से स्पष्ट है कि हम तो आरम्भ से ही लिखित शास्त्रार्थ के अपने २ लेख, को आमने-सामने खड़े होकर स्वयं पढ़ने का उचित आग्रह कर रहे थे, परन्तु समाज ने न जाने क्यों ? इस उचित नियम को किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया था। हमने जब समाज को शास्त्रार्थ से भागते देखा तो उनके अनुचित हठ को स्वीकार करते हुए यह मान लिया कि "दोनों पक्ष अपनी २ वेदी पर प्रश्नोत्तर पढ़ सुनावें"। चुनाँचे हमारी ओर से प्रतिदिन प्रश्नोत्तर पढ़ने से पूर्व जनता को संबोधित करके कह दिया जाता था कि यदि कोई सज्जन खास कर आर्यसमाजी इस लेख को पढ़ कर सुनाना चाहे तो सुना सकता है, परन्तु किसी के तैयार न होने पर हम उभयपक्ष के लेखों को अक्षरश: सुना देते थे। इस प्रकार हमारी वेदी पर उक्त नियम का सर्वथा पालन किया गया, परन्तु समाज तो नियम पालन करना सीखा ही नहीं–उसने अपने स्टेज पर शास्त्रार्थ पढ़ने के समय साथ ही साथ अपने नोट चढ़ाने भी आरम्भ कर दिये, एक पंक्ति हमारे लेख की पढ़ी जाती थी तो १० मिनट मनमानी बकवास शुरू रहती थी, यही क्यों ? बल्कि बीच-बीच में उपयोगी लेख छोड़ भी दिया जाता था। इस प्रकार अन्याय होता देखकर जनता के निष्पक्ष व्यक्तियों ने कहा कि "आप अक्षरश: पढ़ दीजिये ! विशेष जो कुछ कहना हो वह पढ़ने के बाद कहिये !" निर्लज्जता के अवतार समाजियों को यह कब स्वीकार हो सकता था क्योंकि यथार्थ रूप में पढ़ने पर समाज का बंटा-

ढार ही हो जाने का भय था। हमारे प्रतिनिधि श्रीयुत चरण दास जी ने प्रार्थना की कि "मुझे आज्ञा दीजिए, मैं अपने पक्ष के लेख को पढ़ सुनाऊं", समाज को वह भी स्वीकार नहीं हुआ, इसी प्रकार जनता की धिक्कारें सहते हुए भी समाज ने अपनी कुटिल नीति में परिवर्तन नहीं किया, यह सब कुछ तो हो ही रहा था परन्तु इसके साथ ही साथ एक महा अन्याय यह भी कर डाला कि अपना लेख पढ़ते समय "मोचरस" से योनिसंकोचन की वैदिकता सिद्ध करने वाले सारे के सारे प्रघट्ट को ही छोड़ दिया, तब तो जनता में खलबली मच गई। जब यह वृतान्त हमें मालूम हुआ तो जनता के आग्रहनुसार निम्नलिखित पत्र समाज को लिखना पड़ा, पाठक हमारे पत्र और समाज के उत्तर की तुलना करके समाज की कुटिलता का अन्दाजा लगावें।

हमारा पत्र

मन्त्री महाशय !

आर्यसमाज नैरोबी,

जय श्रीकृष्ण,

निवेदन है कि यूं तो आप आरम्भ से ही सत्य का गला घोंटकर अपनी नञ्-समासान्वित "आर्यता" का परिचय दे रहे हैं परन्तु कल तो आपने हमारे पहिले प्रश्न को और मोच रस चूरण से योनि संकोचन की वैदिकता सिद्ध करने वाले अपने उत्तर को जनता के सामने न पढ़कर अपने तिब्बती हवशीपन का नमूना दिखा डाला, क्या यह अन्याय दयानन्दी सभ्यता का परिचायक नहीं है ?

यद्यपि—(दयानन्दी समाज के भूतपूर्व अग्रगण्य) कविरत्न पं० अखिलानन्द शर्मा के शब्दों में :—

भंगां पिबन्कापडिकालयेषु,
सुप्तो रमायास्तनमंडलेषु ।
गृहे गृहे भोजनभंजनेच्छु,—
र्लंघंगतो दांभिकचक्रवर्ती ॥

—दाँभिकशिरोमणि दयानन्द के चेले जो भी पाप करें सो उनके अनुरूप ही है, परन्तु हम भी चित्रगुप्त की तरह तुम्हारा पिंड छोड़ने को तैयार नहीं । अतः हम स्पष्ट शब्दों में आप को ललकारते हैं कि :—

१—जिस प्रकार हमने यहाँ आर्यसमाजियों को प्रश्नोत्तर पढ़कर सुनाने को नित्य आज्ञा दी है, उसी प्रकार आपको भी हमें अपने यहां प्रश्नोत्तर पढ़ने का "स्वत्व" देना होगा ।

२—आपने जनता की आँखों में धूल डालकर जो कोकशास्त्रीय "वैदिकता" को छुपाना चाहा है हम उसे कदापि छुपने नहीं देंगे ।

३—अतः आज २-७-२७ शनिवार को पांच बजे आप हमारे यहां आकर अपना उत्तर जनता को पढ़कर सुनाएं, आगामी बुधवार को हम आपके यहाँ उत्तर सुनाएंगे ।

४—यदि आपने अपना उत्तर हमारे यहाँ पढ़ने से इन्कार किया अथवा हमें अपने यहाँ उत्तर पढ़ने का "स्वत्व" नहीं दिया तो आप पराजित समझे जाएंगे ।

भवदीय—
काहन चन्द कपूर
मन्त्री० स० ध० सभा,

समाज का उत्तर

नैरोबी,
ति० ४-७-२७

श्रीयुर मंत्री जी
सनातनधर्म सभा नैरोबी

नमस्ते !

आपका ता० २-७-२७ का पत्र मिला। तदनुसार निवेदन है कि सत्य का गला किसने घोटा यह आप न कहिये, इस बात का शास्त्रार्थ छपने पर जनता स्वयं निर्णय कर लेगी। फिर आप गालियां दे दे कर अपना मुख क्यों व्यर्थ गन्दा कर रहे हैं ? यह आपके पंडित जी की विद्वत्ता की पोल सनातन धर्म के सभ्यों को भी मालूम पड़ गई है। आपके पंडित केवल गालि-प्रदान करने में कुशल हैं परन्तु शास्त्रीय ज्ञान शून्य हैं। इन आपकी गालियों को सुन कर यह तो निश्चय हो गया कि आपके पास शास्त्रीय प्रमाणों का बल नहीं है। जिस आपके सत्यार्थप्रकाश पर किये हुए प्रश्नों के कुच्छ अंश को तथा उस पर दिये हुए हमारे उत्तर को जिस कारण हमने सुनाया नहीं उस हमारे उच्चभाव[1] को आप नहीं समझे। वह हमारा भाव हमने जनता के सामने भी कह दिया था। परन्तु लिखित शास्त्रार्थ में जब आपको जय की आशा न रहीं तब आप ने यह रास्ता लिया है। और आपके पंडित जि यहाँ आने से पूर्व देल्ही श्राद्ध विषयक आर्य पंडित के साथ शास्त्रार्थ में जो मुंह की खा

टि०—(१) साफ ही क्यों नहीं कह देते कि सर्वसाधारण के सामने "कोकशास्त्र प्रकाश" की गन्दी शिक्षा के कहने सुनने में लज्जा आगई थी।

चुके हैं[1] वह उनको आमरण विस्मरण नहीं होगा। और यह बात आपको मालूम न हो तो आप अपने पंडित जी से पूछ लीजिये ! सब मालूम हो जायगा। उनका विजय जहां होता है वहां **देल्ही** के माफक ही होता है। यदि इसी का नाम विजय हो तो इस से तो उनके लिये मारे शरम के डूब मरना ही अच्छा है।

कविरत्न के श्लोकों के उत्तर का शास्त्रार्थ के साथ कोई संबंध नहीं उनकी नीचता[2] से आप अपनी शोभा बढ़ा रहे हैं परन्तु याद रहे कि संसार में महर्षि दयानन्द के अखण्ड ब्रह्मचर्य का यशो दुंदुभि इतना जोर से बज रहा है कि, आपके टचाँ टचां को कोई भी नहीं सुन सकता। जिस प्रकार श्रीकृष्ण **को** शिशुपाल **ने** सौ सौ गालियां **देने पर भी** उनका यशो दुंदुभि आज तक **ज्जां** का **त्यां** बज रहा है। **मात्र** निन्दा करने से जैसी शिशुपाल की दुर्दशा **हूई** पब्लिक में आपकी वैसी ही होगी।

हम **समज** गये कि शिव, विष्णु, ब्रह्मा से लेकर इन्द्र, चन्द्रादि, देवों तक सबों की बेइज्जती करके पुराणों ने उनको पूर्ण व्यभिचारी बना दिया। रहे सहे आप जैसे पुराणानुयायी पौराणिक, इनकी भी नाकें अच्युत कवि ने अपने कल्पतरु नामक ग्रन्थ में काट कर निर्मूल कर दी हैं। आप चाहते हैं कि आपके जैसे ही व्यभिचारादि दोषों से दूसरों की नाकें कटे, परन्तु

---

(१) समाजी को जब स्वयं कुछ नहीं सूझता तो किंकर्तव्य विमूढ़" होकर बायें दायें झांकने लगता है, वास्तव में देहली के आर्य पण्डितों की भी यही दुर्गति हुई थी जो कि अब आपकी हो रही है। विश्वास न हो तो "हिन्दु संसार" देहली (नवम्बर १९२६) की फाइल देखें।

टि०–(२) कविरत्नजी को अकारण बुरा कहना समाजी की महा-नीचता है।

इस आशा को तिलांजलि दे दीजिये। देखिये उक्त कवि क्या कहता है—

पौराणिकानां व्यभिचारदोषो
नाशङ्कनीयः कृतिभिः कदाचित्।
पुराणकर्त्ता व्यभिचराजात-
स्तस्यापि पुत्रो व्यभिचारजातः॥

आप चित्रगुप्त के समान हमारा पिंड न छोड़ कर हमें ललकार रहे हैं परन्तु यह आपकी गीदड़ भपकी अब पुरानी हो गई। अतः फिर दूसरी निकालिये। इस प्रकार आपकी गीदड़ **भपकीयों** से आर्यसमाज का एक बाल भी बाँका नहीं हो सकता, यह आप निश्चय रखिये। यदि आर्यसमाज ऐसी **भपकीयों** को ख्याल में लाता तो यह संसार में कुच्छ भी काम न कर सकता।

जो अपने प्रश्नोत्तर के लेख का अमुक भाग न सुनाने से आपके शरीर में अग्निदाह हो रहा है। उसे शान्त करने का थोड़ा ही उपाय है। आगामि बुधवार को उक्त भाग अक्षरशः सुना दिया जायगा। जिसको सुनना हो वह आ जावे।

इतने ही के लिये आप हमारे यहां और हम आपके यहाँ आने जाने का शुरूसे जो ढोल पीट रहे हैं उसको बार बार पीटने की अब कोई आवश्यकता नहीं। आपके लेखानुसार "हम आपके यहां न आवें तो हमारा पराजय होगा" इस आप के लेख से सिद्ध होता है कि आप लिखित शास्त्रार्थ में पराजित हो चुके हैं, जब शास्त्रार्थ में आपको जय की आशा न रही तब निराश होकर और **चीड**

कर यह पत्र आपने जय प्राप्त करने की आशा से लिख मारा है। इस आपके पत्र को हम तो धिक्कार के योग्य समझते हैं। मालूम होता है कि शास्त्रार्थ में जय प्राप्त करने की आपकी आशा टूट गई है[1]।

यदि आप छोड़े हुए लेख के भाग को अपने जय का कारण समझते हैं तो हमारे पंण्डित जी के हस्ताक्षर से जो उत्तर आपके पास भेजा है उसको आप जनता के सामने सुनाने में स्वतंत्र हैं। चाहे जब नैरोबी में घर २ जा कर सुनाया करें॥

भवदीय
गुरुदासराम
मंत्री आ०स० नैरोबी

टि०—(१) महाशय जी। यह तो आप के ही अपने भाव हैं, जो फूट २ कर कलम के रास्ते निकल रहे हैं। वस्तुतः आपकी इस दयनींय दशा पर हमें भीं करुणा आती है।

सूचना—

पाठकों को स्मरण होगा कि नियम निर्धारित करतें समय उभय पक्षों की सम्मति से यह निर्णीत हो चुका था कि "पहिली बार का उत्तर ही यथार्थ उत्तर समझा जावेगा" हमने अपने उत्तर के अन्त में फिर भी इस नियम को दोहराते हुए अपने उत्तर की यथार्थता की सूचना दे दी थी, परन्तु आर्यसमाज ने पूरे २६ दिन तक डुबकी लगाकर ति० १३-८-२७ को नियम भंग करके हमारे पुराण विषयक उत्तरों की समालोचना भेज डाली, हमने नियमानुकूल उस आलोचना की प्रत्यालोचना ७२ घन्टे के अन्दर १५-७-२७ को भेज दी, फिर समाज का अनुगमन करते हुए हमने भी समाज के सत्यार्थ-प्रकाश विषयक उत्तरों की आलोचना भेजी, बस ! फिर क्या था समाज को लेने के देने पड़ गए, ७२ घन्टे के बजाय १६ दिन व्यतीत हो गए परन्तु समाज की ओर से उत्तर ही नहीं मिला। आखीर बार-बार लिखने पर २७-७-२७ को भेजी हुई आलोचना का उत्तर ११-८-२७ को मिला।

यद्यपि उक्त आलोचन प्रत्यालोचन संबन्धी लेख बड़े ही मनोरंजक हैं, तथा इनसे समाज की खूब पोल खुलती है लेकिन शास्त्रार्थ का कलेबर अत्यधिक बढ़ जाने के भय से यहां प्रकाशित न करके हमने "हिन्दू" "धर्म प्रकाश" ब्राह्मणसर्वस्व" आदि पत्रों में छापने का विचार किया है।

तीसरा शास्त्रार्थ
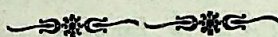
विषय—"पुराण वेदानुकूल है या नहीं"

वादी—पं० माधवाचार्य शास्त्री।

प्रतिवादी—महाशय बालकृष्ण शर्मा

प्रश्न २८-७-२७ को सायं छः बजे मिले। उत्तर ३१-७-२७ को सायं ६॥ बजे भेजे।

आर्यसमाज के प्रश्न

श्री० पं० माधवाचार्य जी!

स० ध० स० नैरोबी

नमस्ते!

आपका शास्त्रार्थ विषयक ति० १५-७-२७ का हमारे लेख के उत्तर में अन्तिम लेख मिला। उससे ज्ञात हुआ कि आप पूर्वोक्त प्रश्नों पर आगे शास्त्रार्थ चलाना नहीं चाहते, किन्तु यदि तीन नये प्रश्न हों तो आप उसका ही उत्तर देना चाहते हैं। इससे अब एक ही पुराण के नये तीन प्रश्न आपके पास भेजे जाते हैं। आशा है आप उनका उत्तर देंगे।

१—प्रथम प्रश्न

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥

(गीता अ० ३ श्लो. २१)

अर्थात्—श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है और जिसको वह प्रमाण मानता है। उसी का ही अनुकरण लोग करते हैं। अर्थात्—श्रेष्ठ पुरुष के चरित्र अन्यों के लिए अनुकरण करने के योग्य होते हैं। इस विषय में आपका और हमारा मतभेद नहीं है। पुराणों के अनुसार **देवों का** इन्द्र चन्द्रादि देवों में चन्द्रमा एक प्रसिद्ध देव माना गया है। परन्तु उसने गुरु जो बृहस्पति उसकी धर्मपत्नी तारा का हरण करके और उससे व्यभिचार कर उससे बुध नामक पुत्र उत्पन्न किया है। जैसे कि—

"बृहस्पति गुरु की प्यारी भार्या तारा नाम वाली थी, जो रूप यौवन से संयुक्त सर्वाङ्ग में मद से विह्वल थी ॥ ५ ॥ एक समय वह अपने यजमान चन्द्रमा के घर गई और चन्द्रमा उसको अति यौवनवती देख कर ॥ ६ ॥ चन्द्रमुखी पर कामातुर हो गये। और वह भी चन्द्रमा को देख काम से पीड़ित हुई ॥ ७ ॥ तब से दोनों परस्पर प्रेम युक्त काम से व्याकुल हुए इस प्रकार **चन्द्र** और **चन्द्र** मदोन्मत होकर काम वाण से पीड़ित हुए ॥८॥ और परस्पर स्पृहायुक्त हो मदोन्मत्त हो रमण करने लगे, इस प्रकार रमण करते उनको कितने एक दिन हो गये ॥९॥ फिर कुछ समय के उपरांत तारा के एक सुन्दर पुत्र शुभ दिन शुभ नक्षत्र में हुआ

जो गुणों में चन्द्रमा के समान था ॥१५॥ (दे० भा० स्कंध १ अ० ११, पं० ज्वा० जी कृत भाषा टीका)

चन्द्र श्रेष्ठ देव थे उन्होंने ही अपनी गुरुपत्नी से व्यभिचार कर धर्मशास्त्रानुसार गुरुभार्याभिगमन-रूप महापाप किया है। इस बात को यदि कोई धूर्तता से ताराओं के आकर्षण-विकर्षण के तारतम्य को कहकर उड़ाना चाहे तो वह असंभव है क्योंकि उक्त कथा का उपक्रम उपसंहार देखने से यह कथा किसी का रूपक नहीं हो सकती। इसी अध्याय में लिखा है कि जब तारा घर को न आई तब बृहस्पति ने तारा को घर लौटा लाने के लिए अनेक प्रयत्न किये हैं। यदि रूपक हो तो उक्त संपूर्ण कथा का ही रूपक होना चाहिए। किसी कथा के अल्पांश को लेकर पुराणकर्त्ता के भाव को बिगाड़ देना यह पण्डिताई नहीं है। अनेक बार चन्द्र के घर से तारा को बुलाने के लिये अपने शिष्य को भेजने पर भी जब तारा न आई और चन्द्र ने न भिजवाई तब बृहस्पति स्वयं उनके घर गये और चन्द्र से कहा कि—

ब्रह्महा हेमहारी च सुरापो गुरुतल्पगः।
महापातकिनो ह्येते तत्संसर्गी च पञ्चमः ॥१५॥

(देवी भा० स्कं० १। ११)

अर्थात्—हे चन्द्र? यह धर्म से गर्हित कर्म तुमने क्या किया। मेरी यह सुन्दरी भार्या तुमने क्यों रोक रक्खी है ॥१३॥ मैं तुम्हारा देव गुरु हूँ और तुम सर्वथा मेरे यजमान हो। हे मूढ़! तैंने गुरुभार्या को क्यों भोगा ॥१४॥ ब्रह्महत्यारा सुवर्ण चुराने वाला; सुरापी, गुरुभार्या में गमन करने वाला और इनका संसर्गी यह पांचों महा पातकी हैं ॥ १५ ॥ इस सर्वाङ्ग सुन्दरी को छोड़,

गैं अपने घर ले जाऊंगा नहीं तो हे दुष्टात्मन् ! मैं तुमको गुरु-दारा का हरने वाला कहूँगा ।। १७ ।। इत्यादि, इस पर चन्द्रमा कहता है—

त्वयैवोदाहृतपूर्वं धर्मशास्त्रमतं तथा
न स्त्री दुष्यति चारेण चारणे न विप्रो वेदकर्मणा ।
कुरु त्वं च स्वसदृशीं गृहाणान्यां स्त्रियं द्विज ।
भिक्षुकस्य गृहे योग्या नेदृशी वरवर्णिनी ।।३२।।
रतिः स्वसदृशे कांते नार्याः किल निगद्यते ।
त्वं न जानासि मंदात्मन्कामशास्त्रविनिर्णयम् ।।३२।।
कामार्तस्य च ते शापो न मां बाधितुमर्हति ।
नाहं ददे गुरो कान्तां यथेच्छसि तथा कुरु ।।३८।।

अर्थात्—(चन्द्रमा कहता है) आपने ही पहिले धर्मशास्त्र का मत कहा है कि पातक करने पर भी रज संचार होने के उपरांत फिर स्त्री दूषित नहीं रहती है। और वेद कर्म से ब्राह्मण दूषित नहीं होता है ।।२२।। हे द्विज ! अपने समान कोई और कुरूप स्त्री ग्रहण करो ! भिक्षुक के घर इस प्रकार की सर्वाङ्ग सुन्दरी स्त्री रहनी योग्य नहीं ।।३१।। नारियों की प्रीति अपने अपने सदृश पतियों में ही होती है। हे मन्दात्मन् ! आप कामशास्त्र **का** नहीं जानते हैं ।।३२।। और कामार्त्त हुए तुम्हारा शाप मुझे **बाध** नहीं दे सकता है। हे गुरो ! आपकी कान्ता मैं न **दुंगा** जो इच्छा हो सो करो ।।३४।।

इस विषय की सविस्तर कथा श्री भागवत स्कं० ९-१४ में भी लिखी गई है। वहां स्पष्ट लिखा है कि गुरुपत्नी तारा में बुध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और उससे जो वंश संसार में चला है उसी का नाम चन्द्रवंश हुआ। चन्द्र को देव कहकर पुराणों ने उसको गुरु-पत्नी से गमन करने वाला ठहराया है यह वेदविरुद्ध अत्यन्त निंद्य कर्म का भागी चन्द्र को कहना–यह बात जिस पुराणकर्त्ता ने लिखी है वह और उसका बनाया हुवा पुराण वेदानुयायी आर्यों के लिये सर्वथैव त्याज्य हैं। कदाचित् पौराणिक महाशय यूं कहने का साहस करें कि हमारे सनातन मत में ऐसा करना दोष नहीं गिना जाता जैसा कि महाभारत शां० पर्व में लिखा है—

गुरुतल्पं हि गुर्वथं न दूषयति मानवम् ।
उद्दालकः श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः ।।

(म. भा. शां अ. ३४. ३२)

अर्थात्—गुरुकी आज्ञा से गुरुपत्नी में गमन करने से मनुष्य दूषित नहीं होता, जैसे कि (पूर्वकाल में) उद्दालक ऋषि ने श्वेतकेतु पुत्र को अपनी स्त्री में शिष्यसे उत्पन्न कराया। परन्तु उपर्युक्त चन्द्र तथा तारा की कथा में वह श्लोक भी आपके पक्ष का पोषक नहीं हो सकता, क्योंकि इस श्लोक में तो गुरुकी आज्ञा से प्रेरित हुआ शिष्य हि गुरुपत्नी से गमन करे तो दोषी नहीं हो सकता, परन्तु उपर्युक्त चन्द्रतारा की कथा में इससे विपरीत यह है कि गुरु बृहस्पति के बार बार मना करने पर भी चन्द्रने उनकी एक भी न मानी और बलात्कार से उनको अपने ही घर में रखा है। इसलिये धर्मशास्त्रोक्त पंच पातकों में से एक महापातक (गुरु-पत्नी-गमन) भागी भागवतानुसार अवश्य है। जब

ऐसा है तो वेद में लिखे अनुसार चन्द्र पौराणिकों का भी उपास्य देव नहीं ठैर सकता। यथा—(मंत्र का उत्तरार्ध)

सशर्धदर्यो विषुणास्य जन्तोर्मा शिश्नदेवाअपि गुरुर्तंन्नः (ऋ. ७-२१-५)

इस मंत्र के भाष्य में सायणाचार्य लिखते हैं कि शिश्नेन दिव्यन्ति ते शिश्नदेवाः अब्रह्मचर्याः इत्यर्थं"। अर्थात्—जो व्यभिचारी लंपट पुरुष हैं वे सत्य तथा यज्ञादि व्यवहार में कभी न आने पायें। बस चन्द्र भी इस मन्त्र के अनुसार लंपट ठहरगया।

२—द्वितीय प्रश्न

पुराणों में यह बात प्रसिद्ध है कि यम, वरुण कुबेरादि सब देवों में इन्द्र यह प्रथम देवता है। इनको देवराज भी कहते हैं ऐसे माननीय देवता को देवी भागवतकार ने परस्त्री-गमन का दोष लगाया है। प्राय पुराण देवियों तथा देवों को भी दोष लगाने में कसर नहीं करते इसी लिये हम कहते हैं कि पुराण वेद विरुद्ध हैं, देखिये–

"(राजा शर्याति के प्रति च्यवन ऋषि कहते हैं कि) हे नरपते ! यदि मुझको प्रसन्न करना आप अपना इष्ट समझते हैं। तो आप मेरा यह वचन प्रतिपालन कीजिये। मेरी सेवा करने के लिये अपनी उसी कमलनयना रत्न हमको दीजिये.॥१६॥ तब राजा ने विचारा कि यह मेरी कन्या देवताओं की कन्या के

समान परमरूपवती है और यह मुनि कुरूप और विशेषकर अन्धे हैं। अतएव यह कन्या रत्न इनको देकर किस प्रकार सुखी हूंगा ॥२४॥...यह सुभ्रू कन्या वृद्ध च्यवन के समीप जब काम बाण से पीड़ित होगी तब किस प्रकार इस अन्धे पति को ले काल व्यतीत करके सुखी होगी ॥१६॥ विशेष कर जब सुन्दरी स्त्रियें अपने अनुरूप पति को प्राप्त करके भी यौवनकाल के समय काम शत्रु को जीतने में समर्थ नहीं होती ॥२७॥ परम रूपवती अहल्या ने तपस्वी गौतम से विवाह किया किन्तु यौवन काल के समय उस वर्णिनी का रूप लावण्य देख इन्द्र ने छल कर उसका धर्म नष्ट किया था ॥२८॥ अन्त में उसके पति गौतम ने धर्म का विपरीत कार्य देख कर उनको शाप दिया। इस कारण उस ऋषि के शाप से मुझको दुःख उपस्थित हो तो भी मैं अपनी कन्या को नहीं दे सकता ॥२६॥ (दे० भा० अ० ७ अ० २ पं० ज्वा० जी कृत भाषा टीका)

उपर्युक्त प्रमाण से देवराजइन्द्रदूषित ठहरने के कारण प्रथम प्रश्न के अन्त में दिये हुए वेद प्रमाणानुसार "शिश्नदेव" होने के कारण यज्ञादि कार्यों में वे वाणी से भी सन्मान के योग्य नहीं हो सकते। फिर पुराणकर्ताओंने उन्हें **यज्ञिय** देवता कैसी मानी इस प्रश्न में एक बात यह भी अत्यन्त विचारणीय है कि जो अहल्या व्यभिचार-दोष से दूषित ठहरी, सनातनधर्मियों में वही सती मानकर प्रातः स्मरणीय समझी जाती है। यथा—

अहल्या द्रोपदी तारा कुन्ता मंदोदरी तथा।
पंच कन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्।

उक्त कथा में किसी प्रकार का रूपक घट नहीं सकता क्योंकि च्यवन ऋषि की ऐतिहासिक कथा में यह गोतम अहल्या लिखी गई है।

३—तृतीय प्रश्न

पुराणों में सब देवों के देव विष्णु **यह** पूज्य और उपासनीय माने गये हैं। पुराणों के अनुसार जब २ धर्म क्षीण होता है, तब २ विष्णु स्वयं अवतार लेकर अधर्म का नाश और धर्म की संस्थापना करते हैं। परन्तु देवी भागवत में लिखा गया है कि परम पवित्र आचरण वाली महा पतिव्रता तुलसी के पतिव्रत धर्म को स्वयं विष्णुने ही नष्ट किया है। जैसा कि—

प्राचीन समय में एक बार देव और असुरों का सौ वर्ष पर्यन्त बड़ा ही भयंकर युद्ध हुआ था।

उसमें देवों के सेनापति शिव थे और दानवों के सेनापति शंखचूड़ नामक दानव था, जब युद्ध में शंखचूड़ को जितना अशक्य मालूम हुआ तब विष्णु ने वृद्धब्राह्मण का रूप धारण कर छल से शंखचूड़ का अभेद्य कवच दक्षिणा मांग लिया। और जिस पतिव्रता के पातिव्रत धर्म से शंखचूड़ शिवादि देवों से जिता नहीं जाता था उस सती शंखचूड़ की पत्नी तुलसी का पतिव्रत धर्म नष्ट करने के लिये विष्णु ने शंखचूड़ का रूप धारण कर छल से उससे संभोग किया जैसा लिखा है कि:—

(१) तच्छ्रुत्वा कवचं दिव्यं जग्राह हरिरेव च।
शंखचूडस्य रूपेण जगाम तुलसीं प्रति ॥११॥

गत्वा तस्यां मायया च वीर्याधानं चकार च ।
अथ शंभुर्हरेः शूलं जग्राह दानवं प्रति ॥१२॥
(दे० भा० स्कं ६ अ० २३)

(२) मयागतं स्वभवनं शिवलोकं शिवो गतः ।
इत्युक्त्वा जगतांनाथः शयनं च चकार ह ॥१६॥
रेमे रमापतिस्तत्र रामया सह नारद ।
सा साध्वी सुखसंभोगादाकर्षण-व्यतिक्रमात् ॥१७॥
सर्वं वितर्कयामास कस्त्वं चैवेत्युवाच सा ।
(तुलस्युवाच)

को वा त्वं वद मायेश भुक्ताऽहं मायया त्वया ॥१८॥
दूरीकृतं मत्सतीत्वं यदतस्त्वां शपामि हे ।
तुलसीवचनं श्रुत्वा हरिः शापभयेन च ॥१९॥
पुनश्च चेतनां प्राप्य पुनः सा तमुवाच ह ।
हेनाथ ते दया नास्ति पाषणसदृशस्य च ॥२०॥
छलेन धर्मभंगेन मम स्वामी त्वया हतः ।
पाषाणहृदयस्त्वं हि भवे देव भवाधुना ।
ये वदन्ति च साधुस्त्वां ते भ्राता हि न संशयः ॥२५॥

(दे० भा० स्कं० ६-२४)

(२) भावार्थ—यह सुन उसने कवच उतार दिया और वह हरि कवच ग्रहण कर शंखचूड़ का रूप धारण कर तुलसी के समीप गये ॥ ११ ॥ और जाकर उसमें वीर्याधान किया और उसी समय शिवजी ने हरि का शूल दानव के प्रति ग्रहण किया ॥१२॥

(१) मैं अपने घर और शिवजी अपने लोक को गये। यह कह जगत्पति ने शयन किया ॥१५॥ हे नारद ! तब उस रामा के साथ रमापति रमण करने लगे, वह साध्वी तुलसी संभोग समय एकांत लीला **के भद से** ॥१७॥ वह सब तर्क से जान गई और बोली तू कौन है ? कि जिस तूने मेरा छल से भोग किया है ॥१८॥ तूने मेरा सतीत्व नष्ट किया है इसलिये मैं तुझे शाप देती हूँ यह तुलसी का वचन सुन विष्णु शाप भय से ॥१९॥ (उन्होंने अपनी लीलामय मनोहर मूर्ति धारण की) क्रोध से मूर्छित हुई तुलसी पुनः सचेत हो बोली कि हे नाथ ! तू पाषाण के समान होने से तुझे दया नहीं ॥२३॥ छल से तूने मेरा सतीत्व नष्ट कर मेरे पति को मारा है। जिससे तू दया-हीन होने **का** कारण पाषाण हृदय वाला है ॥२४॥ इसलिये हे देव ! तू इसी समय संसार में पाषाण हो। जो लोग तुझे साधु कहते हैं वे वास्तव में भ्रान्त हैं इसमें कोई सन्देह नहीं ॥२५॥

वेद में जिस परमात्मा को पाप रहित और शुद्ध कहा है जैसा कि—

"सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्
(यजु. अ. ४०—८)

उसी वदोक्त परमात्मा को शरीरधारी मान उपर्युक्त निंद्य कर्म करने वाला पुराणों ने ठहराया है। आधुनिक सनातनधर्म में उसीको अपना परम उपास्य देव माना है वेदसे अत्यंत विरुद्ध है। यदि आप परमात्मा के उपर्युक्त निंद्य कर्म को वेदानुकूल मानते हैं तो कृपया दिखाईये कि किस वेदमंत्र में परमात्मा के इस निंद्य कर्म को लिखा है ?

भवदुत्तराभिलाषी—
बालकृष्ण शर्मा

सनातन धर्म के उत्तर

* श्री गणेशायनमः *

नैरोबी
३१-७-२७

श्री पं० बालकृष्ण जी,
आर्यसमाज नैरोबी,
जय श्रीकृष्ण,

आपका २४-७-२७ का प्रश्न पत्र मिला उत्तर में निवेदन है

कि आपका हमारे लिये यह लिखना कि "पूर्वोक्त प्रश्नों पर आगे शास्त्रार्थ चलाना नहीं चाहते" सर्वथा असत्य है, यद्यपि पूर्व निर्णीत नियमानुसार पिष्टपेषण व्यर्थ है, तथापि हम आपका अनुगमन[1] करने के लिये सदा प्रस्तुत हैं। जब हमने सब कुछ

टिप्पणी–([1]) पुराणों के पहिले शास्त्रार्थ में हमने वादपद्धति का अनुसरण करते हुवे समाज के प्रश्नों का विस्तृत उत्तर दिया था, पाठक हमारे उत्तर को पढ़कर सहज में ही जान सकेंगे कि हम वस्तुतःनिर्णय करना चाहते थे, अतःएव अपने उत्तर में प्रकरण-विरुद्ध, आक्षेप-जनक, एवं ईर्ष्याद्वेष पक्षपात युक्त, एक भी शब्द नहीं आने दिया था, हमें आशा थी कि समाज की ओर से भी हमारे प्रश्नों का उत्तर ऐसी ही शिष्ट शैली में मिलेगा और इस प्रकार हम उक्त शास्त्रार्थों द्वारा जनता के सामने अपने २ सिद्धान्तों की वास्तविकता रक्ख सकेंगे, परन्तु हमारे पहिली ही वार भेजे हुये प्रश्नों का उत्तर समाज की ओर से पहुंचा तो पढ़ने पर मालूम हुआ कि समाज किसी निर्णय के लिये शास्त्रार्थ नहीं कर रहा है ! किन्तु वह तो छल से, कपट से, हठ से दुराग्रह से "वही वकरी की तीन टांग" बरकरार रखना चाहता है !! पाठक दूसरे शास्त्रार्थ में समाज के उत्तर पढ़कर यह वात भली प्रकार जान सकेंगे। समाज के उक्त उत्तरात्मक लेख में हमारे प्रश्नों का उत्तर कहां तक मिला है यह तो पाठक ही स्वयं निर्णय करें, परन्तु उस में पद-पद पर आक्षेप, प्रकरण विरुद्ध उल्टे हम पर ही नये प्रश्नों की भरमार, अशिष्ट शब्दों में व्यक्तिगत आक्षेप, छोकरेपन की हद्द, भाषा लालित्य की पराकाष्ठा (?) गांभीर्य का दिवाला, दयानन्दी ग्रंथों की वैदिकता सिद्ध करने के स्थान में पवित्र पुराण ग्रन्थों पर मिथ्या लांछन, एवं वादपद्धति की परवाह न करके जल और मिलाना का प्रेम आदि अनेक दोष देख कर

आपकी रुचि पर ही आरम्भ से छोड़ रक्खा है और अब तक उसका पालन करते रहे हैं तो भविष्य में भी आप नियमानुकूल या नियम विरुद्ध जिस मार्ग पर आरूढ़ होंगे, हमें भी अगत्या उसी मार्ग से आपका पीछा करना होगा, क्योंकि:—

हमने भी यह उचित समझा कि भैंस के आगे बीन बजाना व्यर्थ है, यहां तो "ऐसे ही हर गुण गाए, ऐसे ही कुत्तक वजाए" जब समाज को पुराणों के रहस्य समझना अभीष्ट ही नहीं तो फिर "असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया" वेदवाक्य के अनुसार बन्दर को अदरक का अचार क्यों दें ? बस यही ठान कर उक्त शास्त्रार्थ में विस्तृत वाद शैली को छोड़कर "शास्त्रार्थ-शैली" के अनुसार उत्तर दिये गये हैं, विज्ञपाठक उक्त दनों शैलियों का मनन कर लें जहां प्रश्नकर्ता जिज्ञासु भाव से सत्यासत्य का निर्णय करने के लिये प्रश्न करे वहां पहिले शास्त्रार्थ की शैली से उचित रहस्यमय, एवं विस्तृत उत्तर दिया करें। परन्तु जहां प्रश्नकर्ता जिगीषु भाव से अपनी टांग ऊपर रखने के लिये प्रश्न करे तो वहाँ उक्त तीसरे शास्त्रार्थ की शैली के अनुसार उत्तर देना चाहिये, इससे प्रश्नकर्ता अवाक् हो जाता है और थोड़े ही समय में बहुत से प्रश्नों का उत्तर हो जाता है। पुराणों के मौखिक शास्त्रार्थ में प्रायः यही कठिनाई पड़ा करती है कि समाजी तो अपने पाँच दश मिनटों में बीस तीस प्रश्न कर दिया करता है परन्तु उतने ही मिनटों में सब प्रश्नों का विस्तृत उत्तर देना सर्वथा असंभव होता है, अतः उक्त शैली के अनुसार जिन कथाओं या कथांशों की वैदिकता पर समाजी के आक्षेप हों उन्हीं के वेदमंत्र पेश करके शेष अनाप शनाप का भार समाजी के सिर पर ही डाल देना चाहिये। देखिये फिर किस प्रकार लेने के देने पड़ते हैं !

मित्रं सद्विदुषां सतामनुचरोदासोऽस्मि विद्यावतां,
धीराणां च वशंवदः स्वसृपतिः कुक्षिभरीणामहम् ।
लंठानां लगुड़ो गरो गुरुद्रुहां नैयोगिकानां यम
इत्थं सर्वगुणोऽस्मि संप्रतिवरं यद्वा यथेच्छं कुरु[1] ।

अस्तु "यद्यदाचरति" द्वारा आपने जो सिद्धान्त प्रकट किया है वह एकदेशी है, क्योंकि वेद और शास्त्रों में इसके बाधक वाक्य भी पाए जाते हैं यथा:—

(क) यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि । (तैत्तिरीय प्र० ७ अनु० ११)

(ख) गुरूणां वचनं तथैवाचरितं क्वचित् ।

(ग) न देवचरितं चरेत् ।

इत्यादि वाक्यों में आचार्य, गुरु, और देवताओं के धर्म-संगत चरितों को ही अनुकरणीय कहा गया है । इस प्रकार साधक बाधक प्रमाणों का समन्वय करने पर आपका उक्त सिद्धान्त कट जाता है । अतः किसी भी ऋषि, मुनि, देवता, गन्धर्व, किन्नर, तथा माता पिता आचार्य आदि की जीवसुलभ निर्बल-

---

टि०–([1]) अर्थात्–मैं सच्चे विद्वानों का मित्र, सज्जनों का अनुचर, विद्याधारियों का दास, धीरजनों का वशवर्ती, टुकटेर पेटुओं का भैनोई, लंठों का दण्ड, गुरुद्रोहियों का विष, नियोगी महाशयों का काल–इस प्रकार सब गुण रखता हूं, अब सोच समझ कर भला या बुरा जैसा चाहो सो करो ! (उसी तरह तैयार हूं) ।

लाएं "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते" के अटल सिद्धान्त पर चलने वाले मनुष्यों को कर्तव्य पथ से च्युत नहीं कर सकती।

१–प्रथम प्रश्न का उत्तर

"बृहस्पति की पत्नी तारा में चन्द्र द्वारा बुधोत्पत्ति" के विषय में आपने जो प्रश्न उपस्थित किया है, वह बड़ा ही अद्भुत है हम कई वार लिख चुके हैं कि आप वार्द्धक्य के कारण स्मृतिभ्रंश हो जाने से पद पद पर "निग्रह-स्थानों" में फंस जाते हैं। इस प्रश्न में भी वस्तुतः ऐसा ही हुआ है। क्योंकि आपके इस प्रश्न का सार यही है कि 'तारा धर्षण के कारण चन्द्र पौराणिकों का भी उपास्य देव नहीं ठहर सकता।" आप यह भूल गए कि शास्त्रार्थ का विषय "वेदानुकूलता" है। चन्द्र उपास्य हैं या नहीं? यह आख्यायिका बुरी है या भली? अश्लील है या वैज्ञानिक? इत्यादि प्रश्नों का उक्त विषय में अवकाश नहीं, प्रश्न तो यह होना चाहिये कि यह कथा वेद वर्णित है या नहीं? यदि वेद वर्णित है तब तो शेष सब प्रश्नों का उत्तरदातृत्व आप पर ही आ जायगा, हां! यदि वेद वर्णित न हो तब आप इसे वेद प्रतिकूल कह कर हम पर यथेच्छ प्रश्न कर सकते हैं, लीजिये हम उक्त कथा को वेद मंत्रों में ज्यों-की त्यों दिखाते हैं। यथा—

(क) सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छ-दहृणीयमानः। (अथर्व ५।१७।२)

अर्थात्—राजा चन्द्रमा ने (बृहस्पति) की स्त्री को पहले (ग्रहणकर) फिर निर्लज्जता से वापिस किया।

(ख) तेन जायामन्वविन्दद्बृहस्पतिः सोमेननीताम्।
(अथर्व ५-१७-५)

अर्थात्—वृहस्पति ने चन्द्रमा से हठात् छीनी हुई अपनी स्त्री को प्राप्त किया।

सौमायनौ (सोमपुत्रो) बुधः। (ताण्डय २४-१८-६)

अर्थात्—चन्द्रमा का पुत्र बुध हुआ।

हमने संक्षेप से पुराण वर्णित समस्त कथा–वेद शब्दों में दिखादी है, साधारण संस्कृतज्ञ भी उक्त मंत्रों को पढ़कर इस कथा की वैदिकता को खूब समझ सकता है। रहा उपास्य होने का प्रश्न ! यद्यपि शास्त्रार्थ से इसका कोई सम्बन्ध नहीं तथापि हम कृपा पूर्वक आपको समझा देते हैं।

चन्द्रमा केवल हमारा ही उपास्य देव नहीं है, बल्की वह तो दयानन्दी समाज का भी हमसे अधिक उपास्य देव है। स्वामी दयानन्द ने संस्कार विधि (निष्क्रमण संस्कार) में "यददश्चन्द्रमसि" इत्यादि वेदमन्त्र द्वारा चन्द्रमा को अर्घ[1] देना लिखा है। अब आप ही बतायें कि वह आपका उपास्यदेव क्यों ठहरा हुवा है ?*

टि०–(1) संस्कार विधि पृष्ठ ६९।

* उक्त कथा का विस्तृत समाधान, वास्तविक तात्पर्य, एवं वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक समन्वय हमारे बनाए "पुराण दिग्दर्शन" ग्रंथ में मिलेगा।

२–द्वितीय प्रश्न का उत्तर

आप दूसरे प्रश्न में भी हमारे पूर्व लेखानुसार "निग्रह स्थान" में तथैव निबद्ध हैं। न जाने आप इस वृद्धावस्था में पुराणों के बहाने वेदों पर क्यों कुठाराघात कर रहे हैं! क्या आप नहीं जानते कि "इन्द्र अहल्या" वाली कथा वेदों में कई जगह आती है, हमें आश्चर्य है कि दयानन्द-शताब्दी पर दयानन्दी विद्वत्परिषद् का प्रधान बनने वनले वाले पुरुषको इतना भी ज्ञान न हो कि वह उस कथा को—जोकि वेदों में कई जगह आई हो—अवैदिक कहने का साहस कर सके। लीजिये! हम इस कथा को वेदों में दो चार जगह दिखाते हैं।

(क) अहल्याया ह मैत्रेय्याः (इन्द्रः) जार आस।
(षड्विंश १।१)

(ख) इन्द्र अहल्यायै जारः। (शतपथ ३।३।४।१८)

(ग) इन्द्र अहल्यायै जारेति।
(तैत्तिरीयारण्यक–१।१२।४)

(घ) इन्द्र अहल्यायै जारः।
(लाट्यायन श्रौतसूत्र १।३।१)

अर्थ वही है जोकि आपने अपने प्रश्न में पुराण से उद्धृत किया है। यहां यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इन्द्र कौन है? और अहल्या कौन है? तथा "जार" शब्द का क्या अर्थ है? क्योंकि उक्त वेद मंत्रानुसार इस कथा की वैदिकता सिद्ध हो जाने पर शेष सभी प्रश्नों का उत्तरदातृत्व आपपर चला जाता है। हमने तो अपने पक्ष को स्पष्ट सप्रमाण कर दिया है।

"अहल्या द्रौपदी तारा" आदि श्लोक में आपने "पंचकंना" के स्थान में "पंच कन्या" लिखकर अपनी योग्यता का खूब परिचय दिया है। इसका प्रकृत प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं! यदि सीखने के लिये उत्तर जानना चाहते हैं तो दयानन्द के और अपने गुरु पण्डित भीमसेन शर्मा का "पंच कन्या चरित्र" पढ़ लीजिये।
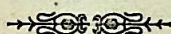
३-तीसरे प्रश्न का उत्तर।

तीसरे प्रश्न में आपने जो कथा लिखी है उसका तात्पर्य समझिये! "पुरुष के हृदय रूप स्वर्ग पर अधिकार जमाने के लिये सुगुण और दुर्गुण रूप देवता और असुरों का घोर संग्राम हुआ करता है। देवताओं का सेनापति वैराग्य रूप शिव है और दैत्यों की सेना का अग्रणी मोहरूप शंखचूड़ है, जिसने वृत्ति रूप साध्वी स्त्री को अपनी धर्मपत्नी बना रक्खा है, जिसके प्रताप से वह सर्वथा अजेय बन रहा है। विचार रूप विष्णु जब वृत्ति रूप तुलसी को अपना लेता है तब वह मोह रूप शंखचूड़ मर जाता है, साध्वी वृत्ति से विचार दृढ़ हो जाता है यही पाषाण भाव का तात्पर्य है। वेद भगवान् इस भाव को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्या उशती सुवासाः

(ऋ० ८। २।२३। ४)

इस मंत्र में स्पष्टतया ज्ञान वृत्ति को काम भाव संपन्न स्त्री से उपमित करके व्यक्त किया है। घुणाक्षर न्याय से यदि

यहां यह भी मान लिया जावे कि वस्तुतः किसी एक स्त्री का पतिव्रत धर्म विनाश किया गया है, तो पूर्व इसका कारण जानना आवश्यक होगा। शंखचूड़ एक अत्याचारी असुर था, उसने न जाने कितनी देवाङ्गनाओं और मानुषी स्त्रियों का पतिव्रत धर्म विनाश किया होगा। और भविष्य में भी जीवित रहता तो अगणित स्त्रियों का पतिव्रत धर्म विनाश करता! वह अपनी पतिव्रता स्त्री के प्रताप से सर्वथा अजेय था, जब तक उसकी स्त्री पतिव्रत धर्म से च्युत न हो तब तक उसकी कदापि मृत्यु हो ही नहीं सकती थी। अब "अनेकान्तवाद" सिद्धान्तानुसार लाखों स्त्रियों का पतिव्रत-धर्म बचाने के लिये यदि किसी एक स्त्री का पतिव्रत-धर्म नाश करना हो एक मात्र उपाय हो तब वह कर्तव्य ही हो जाता है। वेद कहता है--

"मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि"

अर्थात्--किसी भी प्राणी को मत मारो। परन्तु कल्पना कीजिये की एक आततायी निरीह पुरुषों को मार रहा हो, किसी नगर को फूंक रहा हो, उस समय सहस्रों प्राणियों की रक्षा के लिए उस एक पापिष्ठ का मारना धर्मसंगत होगा या छोड़ना? जहां एक की हिंसा से सहस्रों की जानें बचती हों वहाँ कोई भी बुद्धिमान् उस एक हिंसा को बुरा नहीं कह सकता।

इसी प्रकार यदि एक स्त्री का पतिव्रत-धर्म नष्ट करने पर ही संसार की समस्त स्त्रियों का पतिव्रत-धर्म बच सकता हो तो वहां कोई भी बुद्धिमान् उसे अधर्म नहीं कह सकता। विष्णु भगवान् तो सर्व व्यापक होने के कारण तुलसी और शंखचूड तथा अन्यान्य सभी प्रणियों के रूप में एकला ही "बहुरूपिया" बना हुआ है, जैसा कि ऋग्वेद के "रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव (६।४।१८)" मंत्र पर आर्यसमाज के प्रसिद्ध पं० श्रीपाद

दामोदर सातवलेकर ने अपने "वेदामृत" में पृष्ठ ३६८ परस्वीकार किया है, अतः उभयरीत्या विचारने पर यह कथा स्पष्ट है। इस प्रकार हमने आपके तीनों प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दे दिया है। आप प्रश्न करते समय यह बात कभी भी न भूला करें कि हमारा पक्ष "वेदानुकूलता" है, अतः जो कथायें आप स्वयं जानते हों कि वेद में विद्यमान हैं, फिर उन पर प्रश्न करने का आप व्यर्थ कष्ट न उठाया कीजिए! हां! यदि कोई ऐसी बात आपको मिले जो कि वेदों में नहीं हो, किन्तु पुराण में ही हो, अलबत्तह उसे प्रश्न रूपेण पेश किया जा सकता है। शम्।[1]

भवदीय—प्रतिवादिभयंकर—
माधवाचार्य शास्त्री

टि०—(1) उक्त कथा का विस्तृत समाधान भी "पुराण दिग्दर्शन ग्रन्थ में मिलेगा।

चौथा शास्त्रार्थ

विषय "दयानन्द कृत ग्रन्थ कपोल कल्पित हैं या नहीं"

वादी—महाशय बालकृष्ण शर्मा ।

प्रतिवादी—पं० माधवाचार्य शास्त्री ।

प्रश्न १०-८-२७ रात्रि में ८॥ बजे भेजे, उत्तर ११-८-२७ को मिला ।

सनातन धर्म के प्रश्न

श्री पं० वालकृष्ण जी शर्मा
आर्यसमाज नैरोबी

जय श्रीकृष्ण ।

आज पूरे दो सप्ताह हो गए हमने आपको दयानन्द कृत ग्रंथों की वैदिकता विषय के प्रश्नोत्तरों की आलोचना भेजी थी, पूर्व निर्णयानुसार उसका उत्तर ७२ घन्टे के अन्दर आपकी ओर से आना चाहिए था, हम तीन बार आपके प्रश्नों का उत्तर दे चुके हैं और सदा समय पर पहुंचाया है, परन्तु आप आरम्भ से ही नियम भंग कर रहे हैं। पहिली बार आपने ६ दिन के बाद पहुँचाया था, परन्तु दूसरी बार चौदह दिन व्यतीत हो जाने पर

भी आपके कान पर जूं नहीं रेंगती। हम आपका अनुगमन करते हुए नवीन तीन प्रश्न भेजने में आज तक पूर्व प्रश्नों के उत्तर की प्रतीक्षा में विलम्ब करते रहे परन्तु आज जब हमें आपके मंत्री का पत्र मिला–जिसमें कि मौखिक शास्त्रार्थ की चर्चा की गई है और जिसकी स्वीकृति हम आज ही आपको देने वाले हैं--उसमें हमारे पूर्व प्रश्नों के विषय में सर्वथा **"मौनं सर्वार्थसाधकम्"** देखकर आश्चर्य हुआ। आप प्रश्न ही करना जानते हैं या उत्तर देना भी ? कृपया हमारे पूर्व प्रश्नों का उत्तर पहुंचाइये, और आपकी तरह निम्नलिखित तीन प्रश्न और भेजते हैं इनका उत्तर भी निश्चित समय पर दीजिये। यदि अब की बार भी आपने नियम भंग किया तो आप पराजित समझे जाएंगे।

आपको स्मरण होगा कि हमारे मन्त्री जी ने अपने २२-५-२७ के पत्र में लिखा था कि "स्वामी दयानन्द कृत ग्रन्थ वेदबाह्य और कपोल-कल्पित हैं" हम अपने इस पक्ष के समर्थन में पूर्व तीन प्रश्नों में सत्यार्थप्रकाश की वेदवाह्यता दिखा चुके हैं जिनकी आलोचना का उत्तर आप नहीं दे सके, दूसरे शब्दों में आपने उसे "मौनं स्वीकृति लक्षणम्" के अनुसार मान लिया, अबकी बार हम सत्यार्थप्रकाश का कपोल कल्पित होना सिद्ध करते हैं। कपोल कल्पना का सामान्य लक्षण तो आप जानते ही होंगे कि "वेदादिशास्त्रों के नाम पर अपनी मनघड़न्त बात को सिद्धान्त बताना और मिथ्या-भाषण, छल कपट से जनता को धोखा देना"–आदि अनर्थ उक्त शब्द के अन्तर्गत हैं, सत्यार्थ-प्रकाश अथ लेकर इति पर्यन्त इस प्रकार की कपोलकल्पनाओं से भरा पड़ा है दिग्दर्शनार्थ हम कुछ उद्धरण देते हैं : –

१—प्रश्न

(वेदों के नाम पर कपोल कल्पना)

स्वामी दयानन्द जी ने अष्टम समुल्लास में सृष्टि उत्पत्ति विषयक जो कुछ लेख लिखा है वह प्राय: कपोल कल्पित है। यथा--

(क) "सृष्टि के आदि में एक व अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे ? वा क्या ? (उ०) अनेक, क्योंकि जिन जीवों के कर्म ईश्वरीय सृष्टि में उत्पन्न होने के थे उनका जन्म सृष्टि की आदि में ईश्वर देता क्योंकि "मनुष्या ऋषयश्च ये। ततो मनुष्या अजायन्त" यह यजुर्वेद में लिखा है।

(० प्र० सप्तमावृत्ति पृष्ठ २३७)

यहां स्वामी जी ने यजुर्वेद के नाम पर जो कल्पना की है वह सर्वथा अक्षम्य है क्योंकि यजुर्वेद में "मनुष्या..." आदि पाठ कहीं नहीं लिखा, (कहना न होगा कि दयानन्द के मत में केवल शुल्क यजुर्वेदीय-माध्यंदिनी शाखा का नाम ही यजुर्वेद हैं। अब की आवृत्तियों में--"और उस के ब्राह्मण में" इतना पाठ धनुषकार चिन्हित और बढ़ाया है (जिसका उत्तरदातृत्व भी दयानन्दियों पर हैं) परन्तु यजुर्वेदीय ब्राह्मण शतपथ और तैत्तिरीय में भी इस प्रकार के अविकल पाठ का सर्वथा अभाव है, क्या यह वेद के नाम पर कपोल कल्पना नहीं है ?

ख. "प्रश्न—आदि सृष्टि में मनुष्यादि की बाल्या युवा वृद्धावस्था में सृष्टि हुई थी ? अथवा तीनों में ? उत्तर—युवावस्था में, क्योंकि जो बालक उत्पन्न करता तो उनके पालन के लिये दूसरे मनुष्य आवश्यक होते और जो वृद्धावस्था में बनाता तो मैथुन सृष्टि न होती"

यह स्वामी जी की नितान्त कपोल कल्पना है वेद में इन बातों का समर्थक कोई मंत्र नहीं, यदि हो तो दीजिये !

ग. मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई उत्तर "त्रिविष्टप" अर्थात्—जिसको तिब्बत कहते हैं"

क्या आप किसी वेद मंत्र में यह बात दिखा सकते हैं ? यदि नहीं तो यह मिथ्या कपोल कल्पना नहीं तो और क्या है ?

इस प्रकार अन्यान्य स्थलों में भी वेद के नाम पर मिथ्या कल्पनाएं की गई हैं यथा—

"जो ऐसा अर्थ करोगे तो विधवेव देवरम् "देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते"...इत्यादि वेद प्रमाणों से विरुद्धार्थ होगा" (स० प्र० ७ आ० पृ० १२५)

यहां "देवरः कस्मात्......"आदि वाक्य को वेद प्रमाण कहकर धोखा दिया गया है, क्या किसी में शक्ति है कि वह उक्त वाक्य को किसी भी वेद में दिखादे ? यदि नहीं तो यह साक्षात् कपोल कल्पना है !

"और वेदों में भी ब्राह्मणस्य विजानतः इत्यादि पदों से सन्यास का विधान है"

(स० प्र० आ० ७ पृ० १३०)

यहां भी "ब्राह्मणस्य" आदि वाक्य वेदों के नाम पर कपोल-कल्पित है।

"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मानं वेद··· यह बृहदारण्यक का वचन है।"

(स० प्र० पृ० २०७)

बृहदारण्यक में इसका सर्वथा अभाव है।

"जीवेशौ च विशुद्धाच्चिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः।··· इत्यादि। यह "संक्षेप-शारीरिक" और "शारीरिक—भाष्य" में कारिका है।"

(स० प्र० पृ० २०८)

यहां जिन ग्रन्थों के नाम पर कपोल कल्पना की है, उनमें उक्त कारिकाओं की गंध भी नहीं।

हमारे इस प्रथम प्रश्न पर विचार करने से यह सार निकलता है कि स्वामी दयानन्द ने अपनी मनघडन्त थोथी कपोल कल्पित बातों का समर्थन करने के लिये व्यर्थ ही वेदादि सच्छास्त्रों को दूषित किया है, हमने जितने उद्धरण यहाँ दिये हैं वह इस बात की पुष्टि करने के लिये पर्याप्त है, क्या आप सत्यार्थ-प्रकाश के उक्त लेखों को वैदिक समझते हैं? अथवा वेदों में उपर्युक्त वचन दिखा सकते हैं? जो स्वामी जी ने वेदादि के नाम

पर उद्धृत किये हैं। यदि हो तो दिखाइये ! नहीं तो इन्हें कपोल कल्पित स्वीकार कीजिये !!

२—प्रश्न

(पुराणों के नाम पर कपोलकल्पना)

स्वामी दयानन्द ने जहां अपने मन घड़न्त प्रमाणों द्वारा अपने पक्षकी पुष्टि की है, वहां पुराण ग्रन्थों के खण्डन के लिये भी कपोलकल्पना से काम लेकर जघन्य पाप किया है, इसकी पुष्टि के लिये हम कतिपय उद्धरण यहाँ देते हैं—

(क) "पुनः वे हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप उत्पन्न हुवे उनमें से हिरण्याक्ष को वराह ने मारा उसकी कथा इस प्रकार से लिखी है कि वह पृथ्वी को चटाई के समान लपेट शिरहाने धर सो गया"

(स० प्र० सप्तमावृत्ति पृ० ३५८)

यह कथा श्रीमद्भागवत के नाम पर लिखी है परन्तु वहां चटाई के समान लपेटना, सिरहाने धरना, सोना आदि बातों का सर्वथा अभाव है। 'धर्माचार्य' 'महर्षि' आदि पुछले धारी पुरुष-पुंगव की काली करतूत पर आर्यसमाज को लज्जा के मारे चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिये।

(ख) "उसने एक लोहे का खंभा आगि में तपा कर उससे बोला जो तेरा इष्टदेव राम सच्चा है तो तू इसके पकड़ने से नहीं जलेगा प्रल्हाद पकड़ने को

चला मन में शंका हुई । जलने से बचूंगा वा नहीं ? नारायण ने उस खंभे पर छोटी चिउंटियों की पंक्ति चलाई..."

(सं० प्र० पृ० ३५६)

यह कथा भी भागवत के नाम पर घड़ी गई है। क्या आप भागवत में लोह-स्तंभ, उसका तपाना, पकड़ना, शंकित होना, चिउंटी चलाना आदि बातें दिखा सकते हैं ? यदि नहीं तो फिर कपोल कल्पना नहीं तो और क्या हैं ?

(ग) "महादेव ने अपनी जटा में से एक भस्म का गोला निकाल कर दिया कि जाओ इस में से सब सृष्टि बनाओ"

(स० प्र० पृ० ३५५)

यह गप्पोला स्वामी जी के मुख से निकला है और दयानन्दी समाजियों को इससे कपोल कल्पना की सृष्टि रचने का आदेश किया है। जिस शिव-पुराण के नाम पर महामाया रची गई है उसमें इसका सर्वथा अभाव है, क्या ऐसे २ कपोल कल्पित लेखों के आधार पर ही नया मत चलाने का साहस किया था ? अन्दर बाहिर की फूटी आंखों वाले, लालबुभक्कड़[1] दयानन्दी ही ऐसी २ पर विश्वास करते हैं।

टि०–(१) सत्यार्थप्रकाश में यूं तो अथ से इति पर्यन्त सभी के लिये अगणित गालियें भरी पड़ी हैं परन्तु सनातनधर्मियों पर आप की विशेष कृपा रही है, अतएव चुनचुन कर योग्यता पूर्ण (?) गाली केवल हमारे हिस्से में आई हैं, हम इस फ़न में इतने प्रवीण नहीं कि नई

हमारे इस दूसरे प्रश्न का सार यह है कि दयानन्द ने मिथ्या कपोल कल्पित बातें लिखकर सत्यार्थप्रकाश को तुन्दिल बनाया है। उसमें सत्यता का नाम तक नहीं।

३–प्रश्न

(मन्वादि धर्मशास्त्रों के नाम पर कपोलकल्पना)

दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में स्वार्थ-परायणतासे टके बटोरने के लिये मनु आदि के नाम पर भो कपोल कल्पना की है। यदि दयानन्दी समाज में थोड़ी भी लज्जा होती तो वह मरे शरम के जमीन में गड़ जाता। लीजिये! हम एक आध उद्धरण देकर दयानन्द की चालाकियों का भाँडा फोड़ कर ही देते हैं।

(क) "विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्" नाना प्रकार के रत्न सुवर्णादि धन विविक्त अर्थात् सन्यासियों को देवें **(स० प्र० पृ० १४०)**

यह श्लोक मनु० ११। ६ के नाम से उद्धृत किया है। क्या कोई समाजी मनुजी में "विविक्तेषु" दिखा सकता है? यदि नहीं तो स्वार्थ सिद्धि के लिये, टके बटोरने के लिये कपोल कल्पना से सन्यासियों को धन देने की विधि लिखने वाला गर्भ में ही क्यों न मर गया! और इसे सत्य मानकर आज तक यूं ही पाठ रखने वाले अकल के अन्धे गाँठ के पूरे समाजी मूर्ख नहीं तो और क्या हैं?[1]

गालियों की सृष्टि रच सकें, अतः खोटी खरी जो कुछ भी हैं यह आपकी ही हैं, स्वीकार कीजिये! "पत्रं पुष्पं······"

टि०–(१) "पत्रं पुष्पम्"

(ख) सरस्वती-दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशमार्यावर्तं प्रचक्षते ।

(स० प्र० पृ० २३६)

यह श्लोक भी मनु के नाम से उद्धृत किया है, परन्तु इसमें ब्रह्मावर्त के स्थान में "आर्यावर्त" कपोल कल्पना है। जो लालबुझक्कड़ पद पद पर प्रयोजन सिद्धि के लिये पाठों की हत्या कर सकता है उसका बनाया थोथा पोथा कपोलकल्पित नहीं तो और क्या हो सकता है ?

इस प्रकार हमने तीन प्रश्नों में यह सिद्ध किया है कि सत्यार्थप्रकाश में वेदों के नाम पर पुराणों के नाम पर, और मन्वादि धर्मशास्त्रों के नाम पर मिथ्या कपोल कल्पना की गई है, जिसका न केवल वेद में-अपितु किसी भी धार्मिक पुस्तक में समर्थन नहीं किया गया ! इस प्रकार निश्चित हुआ कि सत्यार्थ-प्रकाश न केवल वेद विरुद्ध है अपितु स्वकपोल कल्पित भी है और उसे मानने वाला दल आपा-पन्थी है।

भवदीय—प्रतिवादिभयंकर
माधवाचार्य शास्त्री

आर्यसमाज के उत्तर

नैरोबी
११-३-२७

सेवा में—

श्रीयुत पं० माधवाचार्य जी ! नमस्ते

आपका ता० २४-८-२७ का पत्र-जीसमें सत्यार्थप्रकाश पर तीन प्रश्न की प्रतिज्ञा कर अन्तर्गत कई प्रश्न करके प्रतिज्ञा

हानि की है, वह प्राप्त हुआ—आर्यसमाज नैरोबी का महोत्सव ता० ३०-७-२७ से ता० १-८-२७ तक हुआ। जिसका **की** आमंत्रण आपको भी दिया गया था[1] उक्त महोत्सव के कारण तथा अन्यावश्य**कीय** कारणों से पत्रोत्तर देने में विलम्ब हुआ है पत्रोत्तर देने में हम पूर्णतया समर्थ हैं इस बात का ज्वलन्त दृष्टान्त शास्त्रार्थ में आए हुए हमारे लेख ही हैं। उनमें **पस्तालीस**[2] पन्ने का हमारा लेख है उसको देख आपकी छाती धड़कती थी—यह आपका आत्मा जानता होगा।

आज जो आपने प्रश्न भेजे हैं उनमें सिद्धान्त विषयक एक भी बात न**हिं**। मा**लु**म होता है पूर्वजन्म में प्रुफ सशोधन[3] करते करते ही आपने शरीर छोड़ दिया है, बस! उनहीं पूर्व-जन्म के संस्कारों से आपने अपने इस लेख में स्वा**मि**जी के लेख **कि** और मानुषिक निसर्गजन्य दृष्टिदोष **कि** संशुद्धि दिखलाइ है।

टि०—(१) दर्शक रूप से उपस्थित होने का आमन्त्रण तो दिया था, परन्तु उत्तर में जब हमने शास्त्रार्थ या शंकासमाधान करने का समय मांगा तो फिर डुबकी भी तो मार गए थे—यह भी तो बताइये!

(२) शास्त्रार्थों में काले कागज तोल कर जयपराजय का निर्णय नहीं होता! किन्तु युक्ति प्रमाणों के परीक्षण से होता है!! फिर आपके युक्ति प्रमाण शून्य "प···स्ता···ली···स" पन्ने की क्या कीमत? समझे?

(३) जन्मजन्मान्तर में भी हमारा काम तो संशोधन करना ही रहेगा, हम दयानन्द की भांति "जिमि पाखण्ड विवाद खे लुप्त होहिं सद्ग्रन्थ" के अनुसार हिन्दू शास्त्रों की हत्या के लिए पैदा नहीं हुवे।

लेख में पाण्डित्य[1] का कुछ भी अंश नहिं यह हमारे उत्तर से स्पष्ट सिद्ध हो जायगा, आपके प्रश्नों को देख यह भी निश्चय हो गया की आपके सिद्धान्त विषय लेखों का दिवाला निकल चुका ! अब आपने दयानन्दतिमिरभास्करादि के अवतरणों को (जिनका कि मुख तोड़ उत्तर आर्य पंडित दे चुके हैं[2]) देकर फिर चर्वित चर्वण किया है।
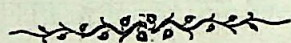
प्रथम प्रश्न का उत्तर

"नई कल्पना कर किसी को धोखा देना" किसको कहते हैं। इसका आपको ज्ञान नहीं। देखिये, नीचे हम धोखे के दो उदाहरण देते हैं।

(क) "कृष्णान्त एम" इस अग्नि देवताक ऋग्वेद मंत्र के सायण भाष्य में कृष्णावतार का गन्ध भी न होने पर कृष्ण भगवान् जंजीर से बन्धी देवकी चे गर्भ में आये ऐसा मिथ्यार्थ कर कपोल कल्पित प्राचीन नीलकंठ का भाष्य का नाम देना वह धोखेबाजी का प्रथम उदाहरण।

(ख) 'अहं मनुरभवम्" इस ऋग्वेद मंत्र का अपनी ओर का कल्पित[3] अर्थ देखकर उसको "दयानन्दकृत" अर्थ दिखा कर

टि०—(१) जब शास्त्रार्थ ही भाषा के थोथे पौथे पर चल रहा हो फिर उसमें पांडित्य को अवकाश कहां ?

(२) जी हां ! अब आप भी तो उत्तर दे रहे हो न ?

टि०—(३) हमारे लिये तो सायण और नीलकंठ दोनों भाष्य मान्य हैं

जनता कि आंखों में धूल डालना इस कु कहते हैं दूसरी[1] धोखे बाजी का उदाहरण बस !

आप धोखा देने में कुशल होने के कारण हमारे उक्त दोनों उदाहरणों को खूब समझ जायेंगे। ऋषि दयानन्द ने यदि ऐसा कहिं किया हो तो उनका धोखा कहा जा सकता था "ततो मनुष्या अजायन्त" श० कां० १४-३-४-३ यह प्रमाण मनुष्य सृष्टि कि उत्पत्ति में दिया है। इस पर आप लिखते हैं की यह प्रमाण ऋषि दयानन्द के लेखानुसार यजुर्वेद में नहिं, तो क्या अब आपने शथ पथ को वेद कहना छोड़ दिया ? यदि कहो हां ! तो आप आर्यसमाजीओं के चेले कब से बने ? यदि कहो कि हम शतपथ को भी वेद ही मानते हैं, तो आप कि मान्यता[2] के अनुसार "ततो मनुष्या अजायन्त" यह वाक्य भी वैदिक ही हुआ। इसी प्रकार "मनुष्या ऋषयश्च ये" इस पाठ में "साध्या ऋषयश्च ये" वेद में आया है, इससे स्वामि जी ने नइ कल्पना कर जनता को धोखा कैसे दिया ? यहाँ तो

सायणने "इदं विष्णु" आदि सैंकड़ों मंत्रों का अवतारपरक अर्थ किया है, यहां भी उनकी अनुकूल सम्मति ही अनुमानित है। जब नीलकंठ भाष्य से कृष्णावतार सिद्ध होने लगा तो उसे "कपोलकल्पित" कह कर पिंड छुड़ाने लगे ! खूब !!

(१) समाजी का सान्निपातिक प्रलाप दर्शनीय हैं।

(२) आप अपनी मान्यता की वात कीजिये ! चार शाखा मात्र को वेद मानने का दयानन्दी ढकोंसला आज क्यों छोड़ रहे हो ?

केवल पाठ[1] भेद हो गया है स्वामी कृत अर्थ का अभिप्राय सरल है, उसमें धोखेबाजी का गन्ध तक नहिं जिस समय स्वामि जी वैदिक प्रेस में सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थ छपवाया करते थे उस समय यदि आप संसार में होते तो आपको अवश्य ही प्रुफ संशोधन के कार्य पर रख लेते। आपके कथनानुसार अविकल पाठ दोनों वाक्यों का न[2] होने पर भी जनता को नवीन कल्पना से धोखा देना कुछ भी सिद्ध न हुआ ?

आगे आपने सत्यार्थप्रकाश में लिखि हुइ युवा मनुष्यों कि उत्पत्ति के विषय में पूछा है की "वेद में इन बातों का समर्थक कोइ मंत्र नहिं यदि है तो दीजिये"। जिस मंत्र मे वल्मीकि रामायण और दाशरथी राम की कथा का एक अक्षर भी नहिं उस "भद्रो भद्रया" ऋग्वेद मंत्र से सम्पूर्ण रामायण कि कथा का मूल वेद में है ऐसा कहता हुआ भी जो पंडित नहिं शरमाता, और जो पंडित "सर्वे निमेषा०" इस यजुर्वेद मंत्र से पुराणोक्त ज्योतिर्लिङ्ग कि कथा निकालता नहिं शरमाता, वह पंडित

टि०—(१) "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनवा जोड़ा" दो पद शतपथ से दो यजुर्वेद से, एक अपनी तरफ से मिलाकर मतलब गांठना ही तो कपोल कल्पना है ! यदि भूल से पाठ भेद हो गया था तो सत्यार्थप्रकाश की उन्नीसवीं आवृत्ति छपने तक भी समाज ने यह ठीक क्यों नहीं किया ? कितने ही दाव पेंच चलाओ आकाश को थेगली नहीं लग सकती।

(२) यही तो हम कहलवाना चाहते थे।

युवावस्था वाली मनुष्य सृष्टि का वेद प्रमाण[1] हमसे पूछे यह कितना आश्चर्य है ? आप समझदार हैं हमारे उपर्युक्त संकेत को अच्छी प्रकार समझ[2] गये होंगे। वेद और उनके ब्राह्मणों से—मनुष्यादि प्राणियों कि सृष्टि[3] हुइ यह तो सिद्ध ही है, परन्तु मनुष्य सृष्टि किस अवस्था में उत्पन्न ई ? इस बात कि व्यवस्था बैठाने के लिये[4] स्वामिजी ने समाधान दिया है। हाँ! इससे विरुद्ध बाल आदि अवस्था में ही मनुष्य सृष्टि उत्पन्न हुइ ऐसा कोइ वेद प्रमाण देते तो हम अवश्य ही मान लते। जब तक आप स्वामि जी के लेख के विरुद्ध वेद प्रमाण न दें, तब तक स्वामिजी का व्यवस्थापक लेख ही प्रमाण भूत[5] रहेगा !! पुराणों में जिस व्यवस्था का गन्ध तक न हो, उस व्यवस्था को आकर्षण विकर्षण के तारतम्य से बैठाने के लिये तो कटिबद्ध हैं, परन्तु वैदिक सृष्टिव्यवस्था बैठाने के लिए स्वामिजी ने जो कुछ सत्यार्थप्रकाश में लिखा है वह आपकि आँखों में क्यों खटकता है ? यह समझ में नहि आता।

टि०–(१) साफ ही क्यों नहीं कह देते कि वेद में युवावस्था में मनुष्य सृष्टि की उत्पत्ति सिद्ध करने वाला कोई मन्त्र नहीं है।

(२ समझें तों तब जबकि आप ने कुछ लिखा हो !

(३) सृष्टि हुई—यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है, "युवावस्था में" सिद्ध कीजिये !

(४) हम भी तो यही कहते हैं कि स्वामी जी ने मनमानी व्यवस्था बैठाई है जो कि वेदादि शास्त्रों से सर्वथा विरुद्ध है।

(५) अस्तु भूत रहे, या प्रेत रहे, इससे यह तो स्पष्ट हो ही गया कि समाजी दयानन्द की लकीर के फकीर हैं, वेदानुयायी नहीं !

"त्रिविष्टप में ही सृष्टि कि उत्पत्ति हुइ" इस विषय में जो आपने प्रश्न किया है उसका उत्तर भी हमारे ऊपर के लेख से ही आपको मिल जायगा, सृष्टि उत्पन्न हुइ और वह त्रिविष्टप में हुइ इस व्यवस्थात्मक लेख का खण्डन तो तभी हो सकता है की जब आप इसके विरुद्ध कोइ वेद[1] प्रमाण दिखावें।

आप प्रथम प्रश्न के अन्तर्गत प्रश्न करते हुए लिखते हैं की "जो ऐसा अर्थ करोगे तो 'विधवेवदेवरम्' "देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते...इत्यादि वेद प्रमाणों से विरुद्धार्थ होगा।" उक्त सत्यार्थप्रकाश का अवतरण देने में जो धूर्त्तता आपने की है वह अक्षम्य है। क्या आप इसी प्रकार धूर्त्तता कर घूर्त्तराज कि

टि० (1) हमें वह विदित नहीं था कि समाजियों की परिभाषा में "दादा वाक्य" को ही वेद प्रमाण कहते हैं। अन्यथा जब वेद में लिखा है किः—

(क) एतावतीवाव प्रजापतेर्वेदियावत्कुरुक्षेत्रम्।
(तांड्य २५।१३।३)

(ख) कुरुक्षेत्रं देवाना देवयजनम्।
(शतथ १४।१।१।२)

अर्थात्–[यजुर्वेद (अध्याय ३१) में जिस सृष्टिरचना रूप देवयज्ञ का यिस्तृत वर्णन है, उस] ब्रह्माजी की (सृष्टि यज्ञकी) वेदि इतनी ही है कि जितना "कुरुक्षेत्र" है यानी आदि सृष्टि कुरुक्षेत्र में ही हुई है, फिर भी वेद प्रमाण शून्य दयानन्द की मिथ्या कल्पना को ही मानते रहना कोरा नास्तिकपन है !!

पदवी मिलकर भारतवर्ष जाना चाहते हैं ? आपने अवतरण देते समय जिस सत्यार्थप्रकाश के लेख के लिये बिन्दीयां लिखि हैं, वह लेख लिखते मालूम होता है की आप कि मनोदेवता ने आप को ऐसा करने से अवश्य रोका है ? केवल हठ दुराग्रह के वश होकर आपको यह पाप करना पड़ा है। देखियें सत्यार्थप्रकाश का पूरा अवतरण हम नीचे देते हैं। यथा—

"जो ऐसा अर्थ करोगे तो "विधवेवदेवरम्" "देवरः कस्माद्द्वितीयो वर उच्चते" "अदेवृघ्नि" और "गन्धर्वोविविद-उत्तरः" इत्यादि वेद प्रमाणों से विरुद्धार्थ होगा।"

अल्पबुद्धि रखने वाला मनुष्य भी समझ सकता है की "विधवेवदेवरम्" इस वेद कि प्रथम प्रतीक में जो "देवरम्" यह आया है उसका अर्थ स्बामिजी ने "देवरः कस्माद्द्वितीयो वर उच्यते" यह निरुक्त का वचन उद्धृत किया है। और आगे "अदेवृघ्नि" और "गन्धर्वोविविद उत्तरः" यह वेद कि दो प्रतीकें दे दी हैं। यहां "इत्यादि वेद प्रमाणों से विरुद्धार्थ होगा" यह लेख तीनों वेद प्रमाणों से विरुद्धार्थ होगा यह स्वामिजी का भाव स्पष्ट है परन्तु उस निरुक्त वाक्य को वेद प्रमाण कि भ्रान्ति से भ्रान्न्त हो कर उस पर प्रश्न उठाने वाला आपसे बढ़ कर महा-पंडित दूसरा कौन होगा !

"यतयो ब्राह्मणस्य विजानतः" इन पदों को स्वामिजी ने वेद वचन लिखा है। भला ! इससे स्वामीजी ने जनता को कौन

सा धोखा दिया ? क्या इस वाक्य को सुन कइ सनातनी नदी या समुद्र में डूब कर तो नहिं[1] मरे !! "यतयः, ब्राह्मणस्य, विजानतः, यह तीनों भी पद वेदों[2] में है तब आपको इनसे इतनी गभराहट क्यों हुइ ? स्वामिजी का अभिप्राय उक्त पदों को लिखने में यही मालूम होता है की ऐसे पदों से वेदों में सन्यास का विधान अवश्य है। उक्त तीनों पदों के प्रत्येक पद के अन्त में एक-एक कामा[3] छपने का रह गया है, ऐसा मालूम होता है, इसमें धोखे कि कोइ बात नहिं। धोखा किसे कहते हैं ? इसके उदाहरण हमने उपर दिये हैं की अपने किये हुए भाष्य पर दयानन्द कृत' ऐसा लिखना उसको धोखा कहते है"

आपने "य आत्मनि तिष्ठन्०" इसका स्वामिजीने दिया हुआ बृहदारण्यकोपनिषद् का पत बरावर नहिं, ऐसा लिखा है। हमें तो यह प्रश्न देखकर हंसी आती है की क्या अब आपका

टि० (१) नहीं नहीं ! अपमृत्यु मरना तो समाजियों के लिये ही रिजर्व्ड हो चुका है !! दयानन्द, लेखराम, श्रद्धानन्द आदि सभी इसी रास्ते गुजरे, नदी, समुद्र आपके लिये अवशिष्ट हैं।

(२) भिन्न भिन्न स्थानों के तीन पद इकठ्ठे करने पर प्रमाण बन गया और उससे सन्यास सिद्ध हो गया !!! वाहरे लाल बुझक्कड़ो !!!

(३) क्या उन्नीसवीं आवृत्ति छपने तक भी कामे की भूल नहीं सुधार सके ?

यही पाण्डित्य शेष रहा है ? बृहदारण्योपनिषद् का पता लिखने में स्वामिजी ने अपनी स्वार्थ सिद्धि अथा मिथ्या कल्पना की-- यह आप सिद्ध कर सकते हैं,? शतपथ में "मूर्त्ति निर्माणाय" यह सामासिक पद न होने पर भी स्वार्थ सिद्धि से उक्त पद अपनी ओर से लिख कर जो संसार को सनातनी प्रसिद्ध[1] पंण्डित ने धोखा दिया है, वैसा यह नहि। यहां तो केवल शतपथ के स्थान में बृहदारण्यकोपनिषद् लिखा गया हे। देखिये, "यआत्मनिति-ष्ठन्" यह लेख अक्षरशः शत० कां० १४। २। ३। ३० में० ज्यों का त्यों लिखा गया है।

आपने "जीवेशौच" यह कारिकायें स्वामि जी के लिखे अनुसार कारिकाएं नहि है" ऐसा लिखा है, यह भी उपर का सा ही प्रश्न है। यहां स्वामि जी कि कोइ भी स्वार्थ-सिद्धि किसि कु धोखा देना यह अभिप्राय बिलकुल नहि यह कारिकाएं वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य जी ने ज्यों कि त्यों लिखि हैं॥

द्वितीय प्रश्न का उत्तर

आप युवावस्था कि घमण्ड अपने लेख में लिख कर वार्धक में हमारी स्मृति की न्यूनता दिखाते हैं परन्तु आप कि स्मृति

टि०-(१) मालूम नहीं समाजी किस प्रसिद्ध पंडित की अप्रासंगिक चर्चा कर रहा है।

शून्यता का इस प्रश्न में स्वयं ही खासा नमूना दिखाया है। उक्त प्रश्न के विषय में हमारे और आपके कइ व्याख्यान होते रहे हैं, व्याख्यान में आये हुए कइ सनातनी महाशयों को उक्त प्रश्न के संतोषजनक उत्तर उसी समय हमने दे दिया है,[1] उस बात को बिलकुल भूल गये। आर्य पंडित शिवशंकर जी ने अनुमान पन्द्रह वर्ष हुए बाल[2] सत्यार्थप्रकाश के अन्त में हिरण्याक्ष ने पृथ्वि को चटाइ के समान लपेट कर उसका **शिरहना** कर वह सो गया और लोहे के लाल थाम पर चली हुई चींटियों को प्रल्हाद ने देखा-इस अभिप्राय के दो श्लोक दक्षिण भारत कि हस्तलिखित भागवत कि[3] प्रति से लिख कर जनता को दर्शा दिये हैं। वे हमने आर्यसमाज नैरोबी में कइ सनातनी महाशयों को प्रत्यक्ष दिखा दिये थे। यथा—

कटमिव समाहृत्याक्षो महाबली।
कृत्वोपधिं भुवं राजन सुष्वाष दानवेष्वर ॥११॥

और—

टि०—(१) क्या सुन्दर उत्तर हैं ! अजी ! सीधे यों ही क्यों नहीं कहते कि इन प्रश्नों का उत्तर हम पूर्व जन्म में दे चुके हैं, अथवा यम-राज के सामने ही देंगे !

(२) हम शिवशंकर के बाल सत्यार्थप्रकाश पर प्रश्न नहीं कर रहे हैं किन्तु युवा दयानन्द के खरे खासे युवा-सत्यार्थप्रकाश पर कर रहे हैं क्या इतना भी विचार नहीं रहा ?

(३) "लोभी गुरु लालची चेला, दोनों नरक में ठेलमठेला" दयानन्द ने तो भागवत के नाम पर बनावटी कथा ही गढ़ी थी शिवशंकर ने श्लोक ही घड़ डाले, तभी तो दोनों राम २ कूट कर मरे, अब बालकृष्णजी

अग्निप्रज्वलिते स्तंभे जग्मुश्चान्याः पिपीलिकाः ।
न प्रदग्धाः बभूवुस्ता हरेरद्भुतलीलया ।।

आगे आप लिखते हैं कि महादेव ने अपनी जटा में से एक भस्म का गोला निकाल कर दिया" इस बात को आपने स्वामि जी का गप्पगोला लिखा है। भारवि कवि ने यह ठीक कहा है कि 'अनार्यसंगमाद्वरंविरोधोऽपि समं महात्मभिः" इसके अनुसार आर्यों से विरोध करते हुए भी आप जैसे अनार्यों का लाभ ही होता जाता है। आपको गप्पगोलों का ज्ञान आर्यों के सहवास से अब होने लगा है। कइ गप्प गोलों से भरे पड़े अष्टादश पुराण आदि ग्रन्थों को पक्षपात छोड़ कर देखने लगेंगे तब हमें आशा है की हमारे सामने आपकी भी दृष्टि में वह त्याज्य ठहर जायेंगे। इस भस्म के गोले का समाधान हमने अपने व्याख्यान में कइ बार दे दिया है। और वह यही है की जिस समय स्वामि जी ने शिवपुराण को देखा उस[1] प्रति में यह कथा अवश्य ही होनी चाहिये। इस विषय में हमने यहां के

झूठमूठ ही दक्षिण भारत की हस्तलिखित प्रति का स्वप्न देख कर अपने पूर्व पुरुषों का अनुगमन करने को कमर कस रहे हैं ! ऐ मिथ्या भाषियो ! कुछ तो ईश्वर से डरा करो !! पाठक नोट करें यह कथांश वा ऐसे श्लोक संसार की किसी भी श्रीमद्भागवत की प्रति में नहीं हैं।

टि०–(1) समाजी की कल्पना बड़ी ही विचित्र है। जब संसार भर की किसी भी प्रस्तुत प्रति में स्वामी जी के गप्प गोले का पता नहीं तो फिर इस थोथी कल्पना की क्या कीमत ?

व्याख्यान में सनातनी पं० दीन दयालु जी का साप्ताहिक[1] पत्र पढ़ सुनाया था। जिसका अभिप्राय यही था कि "साम्प्रत उपलब्ध अष्टादश पुराणों में जो कुछ लिखा है वह उतना ही है यह मानना नितान्त भूल है।" जब एक ही पुराण कि अनेक प्रतियां देखने से कथाओं में बहुत सी न्यूनता अधिकता पाइ जाती है। इस अभिप्राय का अष्टादश पुराण दर्पण में पं० ज्वालाप्रसाद जी का लेख देख लीजिये। इस लिये स्वामि जी के लिखे अनुसार कथा शिवपुराण की किसी प्रति में अवश्य होनी चाहिये।

तृतीय प्रश्न का उत्तर

"विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्" यह स्वामि जी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है। इस पर आप पूछते हैं की "क्या कोइ समाजी मनुजी में "विविक्तेषु" दिखा सकते हैं?" इसका उत्तर यह है की मनु जी में लिखा हुआ आपने ही देखा होगा, परन्तु मनुस्मृति में हम अवश्य दिखा सकते हैं। लिखते

---

(1) मालूम नहीं यह कौन से पं० दीनदयालु जी का कौनसा साप्ताहिक पत्र है जिसे समाजी वेदों की भांति स्वतः प्रमाण मान कर "अपनी गम को गधा बाप" वाली कहावत चरितार्थ कर रहा है, पाठक ! यह तो खूब जानते होंगे कि व्याख्यान-वाचस्पति पं० दीनदयालु शर्मा जी का तो कोई साप्ताहिक-पत्र निकलता ही नहीं।

समय आप कि भ्रान्त बुद्धि में मनुजी में और मनुस्मृति में इन दोनों[1] में कुछ भी भेद नहि रहता । अस्तु, इससे हमें क्या ? परन्तु आप अवश्य इस कि कुछ दवा करें ! देखिये—

धनानि तु यथाशक्तिर्विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥

(मनु० अ० ११)

इस श्लोक[2] में विविक्तेषु" यह पद स्पष्ट पड़ा है ! परन्तु आप मनुस्मृति को छोड़ मनुजी में देखने गये ? वहाँ आपको

---

(1) मूर्ख समाजी को उमर भर में हमारा हास्य करने को एक ही मौका नसीव हुआ परन्तु वह भी 'जब मुंडाया सिर तभी गिर पड़े ओले"—के अनुसार उल्टा गले में पड़ता नजर आ रहा है । समाजी को इतना भी ज्ञान नहीं कि जिस ग्रन्थ का नाम कवि के नाम पर होता है, उसे दोनों भान्ति कह जा सकता है—यथा—"मनुस्मृति में" कहिये या "मनुजी में" कहिये इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । माघ नामक कवि ने अपने नाम पर "माघ काव्य" नामक ग्रंथ लिखा है जिसे "माघे सन्ति त्रयो गुणाः" इस प्रसिद्ध पद्य में केवल माघ नाम से स्मरण किया है, हम सनातन धर्मियों में ग्रन्थ के साथ आदर सूचक "जी" शब्द लगाने की सनातन प्रथा है जैसे "गीता जी" मनुजी" आदि । अब कहिये मनुस्मृति के स्थान में मनुजी कहने में क्या भेद है "अपनी दाढ़ी की आग बुझाई नहीं जाती, लोगों के छप्परों पर पानी सींचने दौड़ता है" । अपनी सुमेरु समान बुद्धि की दवा सूझती नहीं हमें दवा करने का परामर्श देता है ।

(2) समाजी ने यह श्लोक उद्धृत करके स्वयं ही दयानन्द के ढोल की पोल खोल डाली है, पाठक हमारे प्रश्न में दयानन्द के बदले हुए पाठ

कैसा मिल सकता है। अब यहाँ कोइ यह शंका करे की स्वामि जी के कहे हुए अर्थानुसार उक्त श्लोक में सन्यासी का वाचक कौन सा पद आया है? इस का उत्तर यह है की "विचिर् पृथग्भावे" इस धातु से विविक्त शब्द बना है। सांसारिक विषयों से तथा पुत्र कलत्रादिकों से सन्यासी ही पृथक् रह सकता है अन्य नहिं। इसी लिये स्वामि जी ने विविक्त शब्द का सन्यासी अर्थ किया है। यदि यहां भी कोइ शंका करे की सन्यासियों को धन कि क्या आवश्यकता? उस का उत्तर यह है की सन्यासि को अपने लिये धन कि कुछ भी आवश्यकता नहि परन्तु "उदाचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् उदारचरित्र मनुष्यों को सारा संसार सकुटुम्ब होने के कारण केवल उनके दुःखों का निवारण करने के लिये उनको धन कि

के साथ इस शुद्ध पाठ की तुलना करके देखें कि कलियुगी ऋषि की कलम ने क्या कमाल किया है! बालकृष्ण जी ने जो श्लोक उद्धृत किया उसमें वेदपाठी ज्ञानी ब्राह्मणों को धन देने का आदेश किया गया है, परन्तु लोभी दयानन्द ने श्लोक का ढांचा वदल कर "विप्रेषु" के स्थान में "विविक्तेषु" रखकर सन्यासियों को धन देने की स्वार्थ भरी व्यवस्था दे डाली। समाजी ने यह श्लोक उद्धृत करके इस बात को स्वीकार कर लिया है कि दयानन्द का कल्पित श्लोक मनु में नहीं है, इसके अतिरिक्त इस श्लोक के चौथे पाद-("प्रेत्य स्वर्ग समश्नुते" अर्थात्-मरने के पश्चात् स्वर्गलोक को प्राप्त होता है) से स्वर्गादि लोकों को भी स्वयं मान गया है, जो हमारी सैद्धान्तिक विजय है "सो गति तोरि नियोगी! भई, गई पूत को लेन पति खोइ आई"।

आवश्यकता होती है। स्वामि जी ने लोकों से जो धन माँगा है वह वैदिक धर्मप्रचारार्थ ही मांगा हैं। जनता इस बात को खूब जानती है की आज तक स्वामि जी ने मांगे हुए धन से अजमेर वैदिक यन्त्रालय अच्छे प्रकार कार्य कर रहा है। जो ग्रन्थ बहुत बड़ा मूल्य खर्च करने पर जर्मन से मंगाये जाते थे वेहि अब अत्यल्प मूल्य से वैदिक यन्त्रालय दे रहा है सनातनी मठाधीश आचार्यों के समान गद्दी जगा कर यदि स्वामि जी बैठ जाते तब तो आपका प्रश्न ठीक था, अन्यथा वह निर्मूल है।

आगे आपने "सरस्वती दृषद्वत्योः" इस मनुस्मृति के श्लोक में आर्यावर्त शब्द नहिं किन्तु "ब्रह्मावर्त्त" शब्द है ऐशा लिख हम पर आर्यावर्त्त शब्द दिखाने का प्रश्न किया हैं देखियें— प्रथम मनुस्मृति में आर्यावर्त्त शब्द कैसा स्पष्ट आया है यथा—

आसमुद्रात्तु[1] वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः

(मनुः २। २३)

वाह !! बहुत बड़ा पुरुषार्थ कर सत्यार्थप्रकाश कि आपने भूल निकाली है ! इसी लिये हमने इसी पत्र के आरंभ में लिखा हैं की अब आप के सिद्धान्त विषयक लेखों का दिवाला निकल चुका। तभी तो आप ऐसी ऐसी बालीश पनकि बातें लिखकर

---

(1) "सवाल मक्का, जवाब चीना" हम पूछ रहे हैं "सरस्वती दृषद्वत्योः" आदि श्लोक में "आर्यावर्त" ! आप गा रहे हैं "आसमुद्रात्तु वै पूर्वात्" ! साफ कहते गला घुटता है क्या ?

पत्र पूरा कर रहे हैं। भला सत्यार्थप्रकाश में ब्रह्मवर्त्त के स्थान में आर्यावर्त लिखा गया है तो इसमें स्वामि जी ने आप जैसा कौन सा अनर्थ कर दिया ? क्योंकि उक्त श्लोक के आगे जो मनु जी ने बाइसवा श्लोक लिखा है उसमें देश का नाम आर्यावर्त लिखा है ! इससे तो सिद्ध है की मनुजी आर्यावर्त और ब्रह्मावर्त में कुछ भी भेद नहिं समझते।

मालुम होता है आगे जाकर सनातनी पंडित सत्यार्थप्रकाश कि ह्रस्वदीर्घ कि भी अशुद्धियां निकालने लगेंगे। अभि तक वह पाठ ज्यों का त्यों चलता है इसलिये तो वैदिक यन्त्रालय में पूर्व संस्कारी प्रुफ संशोधक की आवश्यकता है। लाल बुझक्कड़ के वंश में उत्पन्न हुए मनुष्य के मुख से ही बार बार लाल-बुझक्कड शब्द निकल सकता है, ब्राह्मण कुलोत्पन्न मनुष्य के मूख ने नहिं।

आपका हितैषी–
बालकृष्ण शर्मा

मौखिक-शास्त्रार्थ की प्रस्तावना।

पाठकवृन्द !

जब पूर्वोक्त लेखवद्ध शास्त्रार्थ सनातनधर्म सभा और आर्यसमाज ने अपनी २ वेदी पर जनता को सुनाया तो "योनि संकोचन" जैसी कोकशास्त्रीय बातों को "मोचरस" के नुसखे से वैदिक सिद्ध करने का समाज का प्रयास देख कर जनता अवाक् रह गई, नगर में चारों ओर यही चर्चा चलने लगी, दुकानों पर आफिसों में, घर में और बाहिर—जहां सुनों यही एक चर्चा थी, कि "बूढ़े उपदेशक ने खूब नुसका बताया ! आखिर नियोगी समाज का ही तो धौरेय है ! धन्य है ऐसे समाज को और उसके धर्मपु:तकों को !!!

यही चर्चा एक दिन सब्जी मारकीट के व्यापारी जनों में चल रही थी। उनमें एक छगन भाई पटेल नामक समाजी भी था, यह महाशय बोल उठा कि "सनातन धर्मी सामने आकर शास्त्रार्थ नहीं करना चाहते घर में ही बातें बनाते हैं"। सेठ —अमीचन्द्र विज्ञ ने इसे समझाया कि भाई ! "सनातनधर्मी तो तीन चार बार समाज को अपने यहां मौखिक शास्त्रार्थ के लिये बुला चुके हैं, और समाज के यहाँ जाकर शास्त्रार्थ करने को समय मांग चुके हैं परन्तु समाज न आने को तैयार हैं, न बुलाने को तैयार हैं, यदि आप समाज को मौखिक शास्त्रार्थ के लिये तैयार कर दें तो मैं आपको १०००) शिलिंग दूंगा, नहीं तो आप मुझे ५००) शिलिंग देना"।

बात बढ़ गई महाशय छगन भाई ने जोश में आकर एक दस्तावेज लिख डाली, परन्तु हस्ताक्षर करने के समय कुछ होश आगई, टालमटोल के बहाने से पिंड छुड़ा भागा। कहा जाता है, कि उसने समाज से मौखिक शास्त्रार्थ करने को कहा तो वहां से कोरा जवाब मिला। इस प्रकार यह दस्तावेज यहीं रह गई।

यह नूतन घटना भी नैरोबी में विजली की तरह फैल गई। सब्जी मारकीट में राम भाई पटेल नामक समाज का एक और अन्ध विश्वासी रहता था, अबकी बार वह शर्त लगाने को तैयार हो गया। शर्तनामा लिखा गया जिसका तात्पर्य यह था कि "१५ अगस्त सन् १९२७ तक आर्यसमाज और सनातन धर्म के दर्म्यान मौखिक शास्त्रार्थ होना चाहिये। यदि सनातनधर्मी पंडित समाज के निमन्त्रण पर समाज मन्दिर में जा कर शास्त्रार्थ करने से इन्कार करे तो सनातनधर्मी पराजित समझे जावें, और सेठ अमीचन्द विज्ञ दण्ड में अपने दो छांबे (बागीचे) महाशय राम भाई को देगा, इसी प्रकार यदि समाजी पण्डित सनातन धर्म सभा के निमन्त्रण पर स० ध० सभा में जाकर शास्त्रार्थ करने से इन्कार करे तो समाजी पराजित समझे जावें और दण्ड स्वरूप अपना एक छांबा म० रामभाई पटेल सेठ अमीचन्द विज्ञ को दे" इस शर्तनामे पर दो शिलिङ्ग का टिकट लगाया गया था दोनों व्यक्तियों के हस्ताक्षर हो चुके थे।

महाशय रामभाई ने समाज को शास्त्रार्थ करने के लिये कहा। कहा जाता है कि समाज ने अपना उका ढोल बचाये

रखने के लिये लेखवद्ध शास्त्रार्थ में जो हंसी हुई सो हुई, परन्तु आमने सामने खड़े होकर समाज की रही सही शान भी धूल में न मिल जावे—इस भय से रामभाई को टालना चाहा, परन्तु वह शर्त लगा चुका था, टालमटोल में वाग देना पड़ता था। अतः समाज को दो टूक जवाव दिया कि यदि समाज शास्त्रार्थ से इनकार करेगा तो मैं और मेरा मित्र मण्डल आज से ही समाज से पृथक् हो जाएगा। तथा समाज के विगत वार्षिकोत्सव पर मैंने जो १०००) शिलिंग देने का वचन दिया है। और अपने मित्रों से भी हजारों के वचन दिलवाये हैं वे सब कैंसिल समझिये, हम इस रकम से किसी तरह शर्तनामें की बला से अपना पिंड छुड़ाएंगे।

अब तो समाज के तोते उड़ गये। सोचा कि बदनामी भी होगी रुपया भी जायेगा, और अक्ल की अंधी गाँठकी पूरी सुनहरी चिड़िया भी हाथ से निकल जायेगी। लाचार होकर हमें चैलेंज लिख भेजा।

इस मौखिक शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में जो पत्र व्यवहार हुआ है, हम उसका सार नीचे लिखते हैं। इसके पाठ से पाठकजन समाज की सैद्धान्तिक निर्बलता, शास्त्रार्थ भीरुता, एवं विचित्र वैदिकता का पर्याप्त परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

पत्र-व्यवहार का सार

आर्यसमाज का चैलेंज—(तारीख ९-२-२७) को हमें समाज के मंत्री का एक पत्र मिला, जिसमें महाशय रामभाई

पटेल और सेठ अमीचन्द विज्ञ के मध्य में जो दस्तावेज लिखी गई थी उसका जिक्र करते हुवे हमें निम्न प्रकार लिखा था)

"शास्त्रार्थ आर्यसमाज का जीवन होने के कारण यह सत्या-सत्य का निर्णय करने को सर्वदा उद्यत है......आर्यसमाज की ओर से इस पत्र द्वारा मैं प्रार्थना करता हूँ कि जो आपकी सभा उक्त दस्तावेज को स्वीकार करती हो और आर्यसमाज के साथ मौखिक शास्त्रार्थ करने के लिये उद्यत हो तो जनता के लाभ के लिये आप अपने पण्डित माधवाचार्य जी सहित ता० १४-८-२७ रविवार को मध्यान्होत्तर २-३० बजे आर्यसमाज मन्दिर में पधार कर करें।

शास्त्रार्थ का विषय--'ईश्वर की साकारता तथा निराकारता या "मूर्तिपूजा" इन दो विषयों में से कोई भी एक विषय पसन्द करके आगामी कल ता० १०-८-२७ के सायंकाल तक कृपा कर सूचित कीजिये !

समय विभाग निम्न लेखानुसार होगा—

२-३० से ३ बजे तक आप के पण्डित जी बोलेंगे, फिर ३ से ३-३० बजे तक हमारे पण्डित जी जवाब देंगे, इसके बाद ५ बजे तक दोनों पण्डित १५-१५ मिनिट बोलेंगे अर्थात् शास्त्रार्थ का कुल समय २॥ घण्टे होगा।

जो कोई पण्डित अपने भाषण में अपशब्द बोलेगा, नियत समय से अधिक समय तक बोलेगा, विषयान्तर करेगा तो उसे रोकने के लिये हमारे प्रधान महोदय को पूर्ण अधिकार होगा"।

सनातन धर्म सभाकी स्वीकृति और चैलेंज—(हमने आर्यसमाज के इस पत्र का उत्तर उसी दिन ता० ६-८-२७ को इस प्रकार दिया)—

"श्रीमान जी ने हमें शास्त्रार्थ के लिये जो निमन्त्रण दिया है हमें वह सर्वथा स्वीकार है, जो विषय आपने लिखे हैं उन में से किसी भी एक विषय पर आपके नियमानुसार आप के प्रधान जी के सभापतित्व में आपके मन्दिर में हमारे पण्डित जी मौखिक शास्त्रार्थ करने के लिये सर्वथा उद्यत हैं। नियत समय पर ता० १४-८-२७ को मध्याह्नोत्तर २॥ बजे हम सब समाज मंदिर में पण्डित माधवाचार्य जी सहित आएंगे।

तदुपरान्त मैं सनातन धर्म सभा की ओर से आप को अपने पंडितों सहित शास्त्रार्थ के लिये शनिवार ता० ११-८-२७ को मध्यान्होत्तर ३ बजे हमारे मंदिर में पधारने का निमन्त्रण देता हूँ।

शास्त्रार्थ के नियम आपके नियमों के अनुकूल ही होंगे, जैसाकि—हमारे प्रधान जी के सभापतित्व में "दयानन्द कृत ग्रन्थ वेदानुकूल हैं या वेद विरुद्ध" इस विषय पर होगा।

शनिवार और रविवार यह दो दिन ही जनता को अवकाश होने के कारण लाभदायक हैं, और शास्त्रार्थ के लिये उपयुक्त[1] हैं। जो शनिबार को किसी कारण से आप हमारे यहाँ आना

टि०-([1]) मा० रामभाई पटेल और सेठ अमीचन्द विज्ञ के शर्तनामे में १५-८-२७ से पूर्व एक दूसरे के यहां आ जा कर शास्त्रार्थ करने का उल्लेख है, उपर्युक्त पत्र हम तारीख ६-८-२७ शनिवार को लिख रहे हैं, अतः तारीख ६ से—१५ के मध्य में यही दो दिन छुट्टी के होने से शास्त्रार्थोपयोगी हो सकते थे।

न चाहें तो शनिवार को आप हमें अपने वहां बुला लें और आप रविवार को हमारे यहां आजावें, जैसे आप को स्वीकार हो सूचित करें।

हमें यह बांचकर बहुत आनन्द हुआ कि आर्यसमाज नैरोबी को महाशय राम भाई पटेल और सेठ अमीचन्द विज्ञ ने धन्व-न्तरी रूप धारण करके पुनर्जीवन प्रदान किया है इस से पहिले आपके पत्र ही इस बात के साक्षी हैं कि नैरोबी आर्यसमाज में शास्त्रार्थ करने का जीवन नहीं था।[1]

कृपा करके इस पत्र का उत्तर कल १०-८-२७ के सायंकाल तक भेजकर कृतार्थ करें[2]

टि०–(१) जब आर्यसमाज ने हमें लिखित शास्त्रार्थ करने का चैलेंज दिया था तब सनातनधर्म सभा की तरफ से आर्यसमाज नैरोबी को लिखा गया था कि "आप तारीख २८-५-२७ शनिवार को सायं पांच बजे शास्त्रार्थ निर्णय के लिये आ जावें" परन्तु आर्यसमाज ने साफ इन्कार कर दिया था, फिर दूसरी बार हमने तारीख १-७-२७ को लेख-बद्ध-शास्त्रार्थ बांचने को निमंत्रण दिया था, और स्वयं उनके यहाँ आ कर अपना उत्तर पढ़ने को समय मांगा था, परन्तु इस समय भी समाजी ने हमारे यहां आने से और हमें अपने यहां बुलाने से इन्कार किया था। फिर तीसरी वार तारीख ३०-७-२७ को समाज के वार्षिकोत्सव पर शंका समाधान के लिये समय मांगा था, तब भी समाज ने हमारे पत्र का कुछ भी उत्तर न देकर चुप्पी साध ली थी। इस प्रकार आर्यसमाज नैरोबी की तीन वार मृत्यु हो चुकी थी। प्रमाणार्थ इसी पुस्तक के पृष्ट ३, ४, २१९ पढ़िये।

(2) हमने उपर्युक्त पत्र आर्यसमाज को तारीख ९-८-२७ के चलेंज के जवाब में उसी दिन सायंकाल भेज दिया था, इसका उत्तर आर्य-

आर्यसमाज का दूसरा पत्र—(हमारे चैलेंज के उत्तर में समाज ने निम्न लिखित पत्र भेजा)।

"आप हमें ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थ वेदानुकूल हैं कि नहीं" इस विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिये शनिवार या रविवार को अपने यहां बुलाने का निमंत्रण देते हैं, इसके उत्तर में निवेदन है कि "ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थ वेदानुकूल हैं कि नहीं" यह शास्त्रार्थ का विषय नहीं हो सकता।

इस रविवार को होने वाले शास्त्रार्थ की समाप्ति पर दूसरे शास्त्रार्थ की तिथि और समय निर्णय किया जावेगा।"

सनातन धर्म सभा का दूसरा पत्र—(हमने इसी दिन अर्थात् ता० २१-८-२७ को सायंकाल सात बजे समाज के दूसरे पत्र का उत्तर इस प्रकार दिया):—

'दयानन्द कृत ग्रन्थ वेदानुकूल हैं या नहीं" यह शास्त्रार्थ का विषय नहीं हो सकता[1]। आपका यह उत्तर पढ़कर हमें बड़ा

समाज की ओर से हमारी प्रार्थनानुसार. तारीख १०-८-२७ के सायंकाल तक न आकर तारीख ११-८-२७ को मध्यान्होत्तर ३-५५ बजे मिला, इससे अनुमान किया जा सकता है कि म० रामभाई पटेल के दवाव से समाज चैलेंज तो दे बैठा, परन्तु हकीकत में शास्त्रार्थ न हो ऐसा प्रयत्न कर रहा था।

टि०–(1) पाठक जन आर्यसमाज के इस हास्यापद उत्तर पर अवश्य हंसेंगे। समाज को तीन मास पर्यन्त इस विषय पर लिखित शास्त्रार्थ करने से आज अनुभव हुआ है कि वास्तव में दयानन्द कृत कोकशास्त्रीय गन्दी बातों की वैदिकता सिद्ध करना असंभव है।

आश्चर्य हुआ। जिस विषय पर आज दिन तक तीन महीने से लिखित शास्त्रार्थ चल रहा हो, और आपकी ओर से जिसे शास्त्रार्थ का विषय स्वीकार किया जा चुका हो, आज जनता के सामने उस विषय पर शास्त्रार्थ करने से आप क्यों भागते हैं ?

मैं आपको इस पत्र द्वारा सूचित करता हूँ कि आप शनिवार ता० १३-८-२७ को मध्यान्होत्तर तीन बजे अपने पंडित सहित पधार कर "दयानन्द कृत ग्रन्थ वेदानुकूल हैं या नहीं" इस विषय पर अवश्य शास्त्रार्थ कीजिये।

यदि आपके कथनानुसार यह शास्त्रार्थ का विषय नहीं हो सकता तो जनता के सामने आकर केवल यही बात कह देना कि इस विषय पर शास्त्रार्थ नहीं हो सकता"

आर्यसमाज का तीसरा पत्र—(हमारे उपर्युक्त पत्र के उत्तर में समाज ने १२-८-२८ को रात के नौ बजे इस प्रकार लिखा)—

"अढ़ाई घण्टे के मौखिक शास्त्रार्थ में ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थ वेदानुकूल हैं या नहीं जैसा विशाल[1] विषय रखना यह आपकी बुद्धिमत्ता है।"

सनातन धर्म सभा का तीसरा पत्र—समाज के उपर्युक्त पत्र का उत्तर हमने ता० १२-८-२७ को रात को १० बजे इस प्रकार दिया—

टि०—(1) समाज ने अपने इस पत्र में किंकर्तव्य विमूढ़ होकर अपने शब्दों में "विशाल विषय" कहते हुए विषय तो स्वीकार कर लिया परन्तु उसे विषय की विशालता का भय शेष रहा था, जिसे दूर करने के

"आपका पत्र अभी रात्री के नौ बजे मिला, जिसमें आपने अपने स्वभावानुसार लज्जा को तिलांजलि देकर शास्त्रार्थ से भागने का प्रयत्न किया है परन्तु पूर्व पत्र में आपको सूचना दे चुके हैं कि ता० १३-८-२७ शनिवार मध्यान्होत्तर तीन बजे "दयानन्द कृत ग्रन्थ वेदानुकूल हैं या नहीं" इस विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिये स० ध० सभा में अवश्य आना होगा। निश्चित समय पर हम आप की प्रतीक्षा करेंगे। शास्त्रार्थ की सूचना जनता को दी जा चुकी है।[1]

आप लिखते हैं कि अढ़ाई घन्टे के मौखिक शास्त्रार्थ में ऐसा "विशाल-विषय" आप सिद्ध नहीं कर सकते, बेशक! जब कि लिखित शास्त्रार्थ में आप के पण्डित ७२ घंटे के नियम के विरुद्ध १६ दिन प्रश्नों का उत्तर देने में लेते हैं तब २॥ घन्टे में क्या उत्तर देसकते हैं।[2] सो हमने आपको सुविधा के लिये आपकी

लिये हमने दयानन्द कृत समस्त पुस्तकों में से अकेले "सत्यार्थप्रकाश" की वैदिकता पूछने की उदारता दिखा दी।

टि०—(1) हम अपने ता० ११-८-२७ के पत्रानुसार शास्त्रार्थ के लिये सब प्रवन्ध कर चुके थे। १३-८-२७ को स्थानीय समाचार पत्र "डेमोक्रेट" में भी विज्ञापन छप चुका था, नगर में हैंडबिल भी बट चुका था।

(2) पाठक जन लिखित शास्त्रार्थ में जो प्रश्नोत्तर छपे हैं उन पर छपा हुआ समय पढ़ें। स०ध० सभा की ओर से हर बार नियत समय के अन्दर उत्तर पहुंचे हैं! परन्तु समाज ने पहिली बार ७२ घन्टे के बजाय ६ दिन और दूसरी बार १६ दिन लगाये हैं। सनातन धर्म सभा में एकले श्री पं० माधवाचार्य शास्त्री उत्तर लिखना, कापी करना आदि सब कार्य

सब पुस्तकों में से केवल "सत्यार्थप्रकाश" पर प्रश्न करने की कृपा करदी है। आप किसी प्रकार सामने आने का साहस करें, आशा है अब आपको भागने का अवसर नहीं होगा, कल अवश्य दर्शन देकर कृतार्थ करें।"

आर्यसमाज का चौथा पत्र— (ता० १३-८-२७ को दुपहर के ११-३० बजे मिला जिसमें समाज ने अकारण शास्त्रार्थ से भागने को हाथ पांव मारे थे। हमने उसका उत्तर उसी समय इस प्रकार दिया—

स० ध० सभा का चौथा पत्र—"आपका ता० १३-८-२७ का पत्र १ -१० बजे प्राप्त हुआ, जबकि आपने अपने गत रात्रि के पत्र में "विशाल-विषय" लिखते हुवे विषय की स्वीकृति दी थी, अब ऐन वक्त पर आपकी घबड़ाहट ठीक नहीं, हमने केवल सत्यार्थप्रकाश पर प्रश्न करने की कृपा कर दी है, शहर में विज्ञापन द्वारा सूचना दी जा चुकी है, कृपया इतने निर्लज्ज तो न बनिये ? शास्त्रार्थ तो आर्यसमाज का जीवन था, अब वह फुटबाल की फूंक की तरह क्यों निकल रहा है। हम फिर सूचित करते हैं कि यदि आप जीवित हैं तो सन्मुख आजाओ ! आप हमारी चिन्ता न करें हमतो अवश्य कल पहुंचेंगे ही"

करते थे, उधर समाज में पं० बालकृष्ण शर्मा, मणिशंकर शास्त्री, त्रिभुवन वेद-पाठी और म० पुरुषोत्तम, तथा और भी कई ऐरे गैरे नत्थू खैरे लंगोट बांधकर जुटे हुए थे फिर भी समय पर उत्तर नहीं पहुंचता था।

आर्यसमाजी की सैद्धान्तिक मृत्यु !

(ता० १३-७-२७ शनिवार का दिन)

भारत में तो प्रायः कहीं न कहीं धार्मिक शास्त्रार्थ होते ही रहते हैं परन्तु नैरोबी के लिये यह एक अपूर्व अवसर था नगर के कोने २ में शास्त्रार्थ की चर्चा फैली हुई थी। ठीक समय से पूर्व ही जनता आने लगी, आन की आन में स० ध० सभा का विशाल भवन भर गया, तीन बज गए, समाज की ओर से कोई नहीं पहुंचा, लोगों की उत्कंठा बढ़ने लगी, साढ़े तीन बजे तक-अब आए अब आए प्रतीक्षा करते रहे। अन्त में पण्डित माधवाचार्य जी ने सब पत्र व्यवहार पढ़कर जनता को सुनाना आरम्भ किया, पत्र व्यवहार की समाप्ति पर जनता को संबोधित कर पूछा कि "यदि किसी सज्जन को समाज के न आने का कुछ कारण प्रतीत हो तो वह हमें बताने की कृपा करे"। जनता तो खूब समझ चुकी थी न आने का कारण सैद्धान्तिक-निर्बलता, शास्त्रार्थ--भीरुता और कोकशास्त्रीय बातों को वैदिक सिद्ध करने की असमर्थता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है, इसलिए जनता ने "न आने का क्या कारण है"--उत्तर समाज के प्रति घृणा व्यञ्जक हास्य में दिया।

लगभग चार बजे महाशय नाथराम नामक एक व्यक्ति ने अपने को समाज का भेजा हुवा प्रतिनिधि बताते हुवे सन्देश दिया कि "कल ता० १४-८-२७ रविवार को अढ़ाई बजे से पांच बजे तक मूर्तिपूजा का शास्त्रार्थ समाप्त होने पर वहीं ५ बजे से ७॥ बजे तक "दयानन्दकृत ग्रन्थ वेदानुकूल हैं या नहीं" इस विषय पर दूसरा शास्त्रार्थ होगा"

जनता में से कई प्रतिष्ठित सिक्खों ने महाशय जी के इस कथन पर संदेह प्रकट किया (जो कि, अगले दिन सत्य साबित हुवा) तथापि सनातनधर्म सभा ने भरी सभा में कहे हुवे महाशय के वाक्य पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं समझा।

दूसरे दिन (ता० १४-१०-२७) रविवार को दो बजे के लगभग कीर्तन करते हुवे सनातन धर्मियों-सहित पण्डित माधवाचार्य जी ठीक समय से १० मिनिट पूर्व समाजमन्दिर में पहुंचे और मूर्ति-पूजा पर मौखिक-शास्त्रार्थ किया जो अक्षरशः यहां लिखा है।

इस मौखिक-शास्त्रार्थ के नोट्स बाबू जातिरामजी वर्मा, श्री जे० बी० दीक्षित तथा श्री अम्बालाल बी० पटेल ने लिये थे और महाशय दौलतराम (समाजी), मि० सहगल (समाजी) आदि सज्जनों ने भी लिये थे, जिनके आधार पर पाण्डुलिपी तैयार करके ता० २१-६-२७ को स्थानीय समाचार-पत्र "डेमोक्रेट" द्वारा अन्य नोट्स लेने वाले सज्जनों को–खासकर आर्यसमाजियों को—खुला निमंत्रण दिया गया, जिससे मुकाबला करके छपने से पूर्व उचित फेर-फार किया जा सके, उक्त निमंत्रण के आधार पर जो सज्जन पधारे उन्हें अक्षरशः मूलकापी सुनाई गई और उनकी आज्ञानुकूल उचित संशोधन करके इसे प्रेस में दिया गया। पहिले गुजराती भाषा में इसे प्रकाशित किया गया, उसी का हिन्दी अनुवाद हिन्दी पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित किया जाता है।

शास्त्रार्थ की यथार्थता के साक्षी—

हमने स्वयं ता० १४-८-२७ रविवार को शास्त्रार्थ में उप-

स्थित होकर जो सुना और समझा था यह ठीक उसके अनुकूल है, यह हमारी मान्यता है।

(२) दौलतराम चतुर्भुज आचार्य ला क्लार्क नैरोबी (२) अमृतलाल मोतीराम रावत (३) त्रतांड़ी करसन जी डाह्याभाई (४) प्राणलाल चतुर्भुज आचार्य (५) मगनलाल त्रिभुवन दुबे (६) जोशी दौलतराम रणछोड़लाल (७) पोपटलाल गोकलदास महता (८) वल्लभदास वीरजी भद्रेसा ;

प्रकाशक—

पांचवां मौखिक शास्त्रार्थ

विषय—"मूर्तिपूजा"

वादी—**पं० माधवाचार्य शास्त्री।**

प्रतिवादी—**पं० बालकृष्ण शर्मा।**

(जो आर्यसमाज नैरोबी की वेदी पर ता० १४-८-२७ रविवार को मध्यान्होत्तर २॥ बजे से ५ बजे तक हुआ)

प्रधान—स० बद्रीनाथ जी का आरम्भिक भाषण।

बड़ी खुशी की बात है कि आज आर्यसमाज और सनातन धर्म सभा के मध्य में मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ होगा, जितने सज्जन यहाँ पधारे हैं मैं उनका स्वागत करता हूँ। हमारा यह ख्याल था कि पांच बजे से पहिले धूप कुछ कम हो जायगी परन्तु अभी तक कम नहीं हुई, धूप में वैठने से आप को जो कष्ट उठाना पड़ा है इसके लिये मैं क्षमा मागता हूं। शास्त्रार्थ के नियम दोनों तरफ के पण्डित भली प्रकार जानते हैं जैसे कि पहिले आध

घंटा तक पण्डित माधवाचार्य जी अपने विषय की स्थापना करेंगे, फिर आध घण्टे तक पण्डित बालकृष्ण जी उत्तर देंगे, इसके बाद हरेक पण्डित के लिये पन्द्रह मिनट होंगे।

मेरे लिये यह गुस्ताखी होगी कि जो मैं कहूँ कि दोनों पण्डित विषय से बाहिर न जावें और आपस में कटु वचन न बोलें।

आज यहां जो सज्जन पधारे हैं मैं उनसे भी एक चीज माँगता हूँ वह यह कि सब शान्ति से रहें और किसी प्रकार का शोर न करें। जो कोई भी आदमी शोर वगैरा करे तो हरेक आदमी का फर्ज है कि उसे बन्द करावे। हम दोनों भारतीय हैं हमें भारतीय सभ्यता का ध्यान रखते हुवे शान्ति से शास्त्रार्थ का लाभ उठाना चाहिये। अपने परिवार (आर्यसमाज) से भी मेरी प्रार्थना है कि वे जोश में न आवें, वैदिक धर्म आदि की जय न बुलावें, और ताली आदि बजाना बन्द रक्खें।
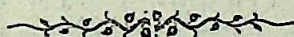
(शास्त्रार्थ प्रारम्भ होने से पूर्व—पण्डित माधवाचार्य जी ने प्रधानजी से आज्ञा लेकर दो मिनट में निम्न लिखित विशेष प्रार्थना की):—

सज्जन महानुभाव! मैंने अपना व्याख्यान आरम्भ करने के पूर्व विशेष प्रार्थना करने के लिये दो मिनट बोलने की आज्ञा ली है। वह यह है कि गत कल शनिवार को आर्यसमाजी भाइयों ने हमारे यहां शास्त्रार्थ के लिये आने की कृपा नहीं की जिसके लिये हमें बहुत शोक है। परन्तु आप लोगों के सामने आर्यसमाज के प्रतिनिधि महाशय राधराम जी ने हमें कल आज्ञा दिलाई

थी कि "मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ होने के बाद उसी समय ५ बजे से ७॥ बजे तक दूसरा शास्त्रार्थ "दयानन्द कृत ग्रन्थ वेद विरुद्ध हैं या नहीं" इस विषय पर होगा" मैं प्रधान जी से प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने प्रतिनिधि म० नाथरामजी के वायदे का अनुमोदन करते हुवे जनता को सूचित करदें कि ५ बजे से ७॥ बजे तक दूसरा शास्त्रार्थ भी होगा।

[बाबू राम भल्ला मन्त्री आर्यसमाज नैरोबी, प्रधान जी की आज्ञा के बिना ही बीच में बोल उठा कि शास्त्रार्थ जल्दी शुरू करो, कल की बातें मत छेड़ो, जनता दूसरा शास्त्रार्थ सुनने को तैयार नहीं (चारों तरफ से जनता की आवाज आने लगी—हम दूसरा-शास्त्रार्थ सुनने को तैयार हैं' अवश्य निर्णय होना चाहिये प्रधान जी ने जनता को शान्त रहने की प्रार्थना करके कहा-

"मैं निश्चय दिलाता हूं कि म० नाथराम ने कल सनातन धर्म सभा में जो कुछ वायदा किया है, आर्यसमाज पर उसका उत्तरदातृत्व नहीं, क्यों कि समाज ने उसको अपना प्रतिनिधि बनाकर नहीं भेजा था[1] और नाहीं उसनें कल की बातों का हम

टि०-([1]) पाठक जन समाजियों के सत्यभाषण का अनुमान करें। कल हजारों पुरुषों के सामने समाज का एक मुख्य कार्य-कर्त्ता अपने को समाज का भेजा हुआ प्रतिनिधि कह कर सन्देश देता है, मगर आज उसके सामने ही प्रधान जी उसके प्रतिनिधित्व से साफ इन्कार करते हैं, और वह महाशय चार हजार पुरुषों के समक्ष अपने को भूठा साबित होते देखकर भी लज्जित नहीं होता, किन्तु बेशर्मी से कबर पर गड़े हुए क्रास के पत्थर की तरह चुप खड़ा रहता है, इसके अतिरिक्त महाशय नाथराम ने कल जो वायदा किया था वह बिजली की तरह शहर के कोने-कोने में फैल गया था, नैरोबी का बच्चा २ इससे वाकिफ था, परन्तु

से कुछ जिक्र किया है, यदि वह कुछ जिक्र करता तो संभव था कि हम कुछ विचार करते, अब इसे (लज्जित करने के लिये) पूछने से कोई लाभ नहीं। मैं पंडित जी से प्रार्थना करता हूँ कि वे अपना भाषण आरम्भ करें। शास्त्रार्थ पूरा होने के बाद इस विषय पर विचार किया जावेगा"]

(पं० माधवाचार्य शास्त्री प्रथम बार)

(समय २–३५ बजे)

महानुभाव ! कल की बाबत प्रधान जी ने जो कुछ कहा वह आप सब सज्जनों ने खूब सुन लिया होगा, उस पर मैं अब अधिक कुछ न कहता हुवा, अपने भाषण को आरम्भ करता हूँ।

धर्म का निर्णय करने के लिये शास्त्रार्थ एक बहुत उत्तम साधन है, इससे धर्म विषयक बड़े बड़े सन्देह दूर हो जाते हैं, आज मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ होना है, इस लिये मैं आप भाइयों को यह बताऊंगा कि सनातनधर्मानुयायी मूर्तिपूजा का क्या तात्पर्य समझते हैं। इसके पश्चात् वेद पुराण और शास्त्रों के प्रमाण देकर मूर्तिपूजा सिद्ध करूंगा। दृष्टांत रूप से समझिये, एक पुरुष कहता है कि पानी बहने वाला होता है, दूसरा कहता है कि पानी बरफ की तरह जमा हुवा होता है। पहिला अपनी बात सिद्ध करने के लिये समुद्र तालाब नदी आदि का उदाहरण देता है, दूसरा उसके जवाब में कहता है कि "मैं इसका खंडन

हमारे प्रधान जी न जाने किस हिमालय की कंदरा में छुपे थे कि जो यह बात उनके कानों तक नहीं पहुंची ! शोक !!

नहीं करता आपने जो दृष्टांत दिया है उसके अनुसार बेशक पानी बहने वाला सिद्ध होता है परन्तु सोडावाटर की दुकान पर जमा हुआ पानी बरफ के रूप में मिलता है, और पर्वतों के शिखरों पर भी हिम के रूप में जमा हुआ मिलता है, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जलकी दो हालत हैं, एक बहने वाली हालत, और दूसरी जमी हुई। यह दृष्टान्त हमारे और आर्यसमाज के विवाद को खूब स्पष्ट करता है, जैसे कि सनातनधर्म परमात्मा के साकार और निराकार दोनों रूप मानता है परन्तु आर्यसमाज परमात्मा को केवल निराकार कहता है, हम अपने सिद्धान्त की पुष्टि में वेद प्रमाण देते हैं, देखो—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चैवामूर्तं च ।

(यजुर्वेद–शतपथ ब्राह्मण १४. ५ । ३ । २)

अर्थात्—ब्रह्म के दो रूप हैं एक मूर्त और दूसरा अमूर्त। यहां ईश्वर के मूर्त और अमूर्त जो दो रूप बतलाये हैं, सनातन-धर्म इस वेद प्रमाण के अनुसार ईश्वर के दो रूप मानता है। वेद में जहां पर भगवान् को बिना हाथ पैर का बताया है वहीं पर सहस्र शिर आदि वाला भी वर्णन किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर के दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त अर्थात्—साकार और निराकार। सनातनधर्मी ईश्वर के साकार रूप का पूजन किसी मूर्तिद्वारा करते हैं पत्थर आदि जड़ वस्तुओं की पूजा नहीं करते। उदाहरण के तौर पर समझिये! स्कूल में भूगोल का नक्शा लटका रहता है उसमें लकीर या रंग वगैरा से मास्टर अपने शिष्यों को दरिया, पहाड़, नदी वगैरा का ज्ञान करवाता है। तात्पर्य कि भूगोल विद्या का ज्ञान करवाने के लिये

नक्शा एक साधन है, अगर विद्यार्थी मास्टर से प्रश्न करे कि नक्शा तो दो तीन फुट का लम्बा चौड़ा है, उसमें हिमालय जैसे बड़े-बड़े पर्वत किस प्रकार समा गये ? गंगा जी जैसी महान् नदियें इस नक्शे और मकान को क्यों नहीं बहा ले जातीं ? सज्जनो ! इस प्रकार से उस विद्यार्थी का प्रश्न करना उसकी भूल कहलाती है। कारण यह है कि नक्शा केवल नदी, समुद्र, पहाड़ आदि के ज्ञान कराने का एक साधन मात्र है। न कि नक्शा स्वयं नदी, समुद्र, पहाड़ आदि है। अगर कोई विद्यार्थी सवाल करे कि नक्शे के ऊपर का हासिया, उसमें लगा हुवा कपड़ा, और ऊपर नीचे लगे हुवे रूल वगैरह चीजें किस मतलब से लगाये गये हैं ? ऐसा प्रश्न करना भी निरी भूल है। कारण कि ये समस्त वस्तुवें नक्शे की शोभा और रक्षा के लिये हैं। इसी प्रकार सनातन धर्म मूर्ति द्वारा साक्षात् भगवान् के दर्शन करने की शिक्षा देता है। जिस समय कोई एक प्रेमी सनातन धर्मी मूर्ति के सामने उपस्थित होता है उस समय वह इस प्रकार प्रार्थना करता है—

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव।"

यदि सनातनधर्मी मूर्ति को पत्थर समझ कर पूजन करते होते तो उसकी प्रार्थना में पत्थर के गुणगान करते। अब यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि—मूर्ति के बिना क्या ईश्वर प्राप्ति नहीं हो सकती ? इस सम्बन्ध में योग दर्शन देखिये।

"यथाभिमतध्यानाद्वा"

(समाधिपाद सूत्र ३९)

अर्थात्–जिसका अभिमत हो उसी के ध्यान से (मन की स्थिति होती है) मनुष्य जिस मूर्ति को पसन्द करता हो उसी मूर्ति में मन लगाने से मन स्थिर हो जाता है।

प्राय: शास्त्रार्थों में अर्थों पर झगड़ा हो जाता है, और अर्थ का निर्णय तभी हो सकता है जब कि कोई विद्वान् मध्यस्थ हो। इसी कारण मैं अपने सिद्धान्त के समर्थन में आर्यसमाज की पुस्तकों में से ही प्रमाण दूंगा। जिससे "अमुक अर्थ ठीक नहीं" ऐसा कहने का अवसर ही न रहे।

श्री स्वामी दयानन्द जी नें मन स्थिर करने का साधन सत्यार्थप्रकाश (ग्यारहवीं आवृत्ति) पृष्ठ १९६ में बताया है कि "रीढ़ (पीठ) की हड्डी में मन टिकावे" इससे स्पष्ट साबित होता है कि मन स्थिर करने के लिये किसी-न-किसी जड़ वस्तु की आवश्यकता अवश्य है। सवाल इतना ही है कि पीठ के हाड से पत्थर की मूर्ति शुद्ध है या अशुद्ध ? थोड़ी-सी भी बुद्धि रखने-वाला मनुष्य पत्थर की मूर्ति को रीढ़ की हड्डी से तो अच्छी ही मानेगा। इसलिये श्री दयानन्द जी के कथनानुसार अपवित्र हाड़ को तिलांजलि देकर मन एकाग्र करने के लिये किसी पवित्र वस्तु को साधन बनाना चाहिये।

वेदों में मूर्तिपूजा तथा मूर्ति बनाने की विधि कई जगह आती है, इसी लिये सनातनधर्मी मूर्ति को ईश्वर प्राप्ति का साधन मान कर उसकी पूजा करते हैं।

आर्यसमाज की ओर से सदैव प्रश्न हुवा करता है कि पत्थर से ईश्वर कैसे मिल सकता है। इस सम्बन्ध में हमारा यह कहना है कि क्या आर्यसमाज ईश्वर को सर्वव्यापक नहीं

मानता ? अगर मानता है तो फिर मूर्ति में ईश्वर व्यापक क्यों नहीं ? अगर आर्यसमाज की पुस्तकें बांच कर सुनाई जावें तो उनमें जड़ वस्तुवों की पूजा भरी पड़ी है। देखिये संस्कार विधि (निष्क्रमण संस्कार संस्कार पृष्ठ ६९) में लिखा है कि:—

"ओं यददश्चन्द्रसि" इत्यादि—

मन्त्र से-अंजलि में जल लेकर चन्द्रमा को अर्घ देवे। भला ! विचारिये तो सही कि चन्द्रमा जड़ बस्तु है कि चेतन ? और उसको जल किस लिये दिया है ? समाजकी दृष्टि में जब चन्द्र जड़ वस्तु है तो उसको जल की क्या आवश्यकता ?

इस प्रकार आर्यसमाज पर अनेक प्रश्न हो सकते हैं। परन्तु उनका उत्तर इतना ही होगा कि जड़ वस्तु के आश्रय बिना चेतन की पूजा नहीं हो सकती। माता पूजनीय है, माता की पूजा करने के लिये जड़ शरीर का स्नान, जड़ मस्तक पर तिलक हाडचाम के गले में फूलों का हार,—गर्ज है कि सब क्रिया जड़ शरीर पर होती है परन्तु उससे प्रसन्न होता है माता का चेतन आत्मा ! पुष्प एक स्थूल पदार्थ है, और उसकी खुशबू सूक्ष्म है, स्थूल फूलको जड़ नाक से लगाये बिना उसकी सूक्ष्म सुगन्धी नासिकान्तरवर्त्ती चेतनाधिष्ठित घ्राण को प्राप्त नहीं हो सकती, इसी प्रकार जबतक स्थूल पेड़ा खाया न जाय तब तक उसकी सूक्ष्म मिठास का पता नहीं लग सकता। अगर कोई चाहे कि पेड़ा खाये बिना भी उसकी मिठास का आनन्द मिल जावे यह असम्भव है। इसी प्रकार परमात्मा को प्राप्त करने के लिये मूर्तिपूजा एक साधन है। सनातनधर्मी पाषाण की पूजा नहीं करते बल्कि पत्थर आदि की बनी हुई किसी मूर्ति द्वारा मूर्ति-- व्यापक परमात्मा की पूजा करते हैं।

वेद प्रमाण देते हुवे मैंने बतलाया था कि ईश्वर के दो रूप हैं, मूर्त और अमूर्त-अर्थात्-साकार और निराकार। इस प्रकार वेदानुमोदित और युक्तियुक्त मूर्तिपूजा पर किसी प्रकार का भी आक्षेप नहीं हो सकता। कई मूर्ख मनुष्य ऐसा प्रश्न किया करते हैं कि परमात्मा तो बहुत बड़ा है फिर वह एक छोटी सी मूर्ति में किस प्रकार समा सकता है? यहां पर हमें ऐसे प्रश्नों की आशा नहीं? क्योंकि यह प्रश्न नास्तिकता से भरा हुवा है। सज्जनो! जो पुरुष परमात्मा को सर्व व्यापक मानता हो वह ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता।

जब कोई आर्यसमाजी या मुसलमान सज्जन ईश्वर की उपासना=पूजा करेगा तो वह किसी एक ही तरफ मुख करके करेगा। इससे अगर कोई मूर्ख ऐसा सवाल करे कि परमात्मा क्या उसी दिशा में है दूसरी तरफ नहीं? तो यह उस प्रश्नकर्ता की भूल है। इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि सर्व व्यापक परमात्मा को एक ही समय में कोई भी पुरुष सब तरफ से नहीं पूज सकता, किन्तु उसका पूजन अपने अपने मत के अनुसार नियत दिशा की तरफ मुख करके ही करसकेगा। अनजान मनुष्य यह भी प्रश्न किया करते हैं कि मूर्ति में व्यापक परमात्मा की पूजा करते हो तो फिर पहाड़ की पूजा क्यों नहीं करते? क्योंकि वहां भी परमात्मा मौजूद है। यह प्रश्न मूर्खता का है। गंगा जी का जल सर्वत्र समान बहता है परन्तु अपने मतलब के लिये 'अमुक' स्थान से ही लिया जाता है। सनातन धर्म ईश्वर को सर्वव्यापक मानता है। वृक्षों में व्यापक परमात्मा को पीपल में देखता है इससे यह नहीं समझना चाहिये कि

दूसरे वृक्षों में परमात्मा नहीं है। किन्तु उसका तात्पर्य यह है कि दूसरे वृक्षों की अपेक्षा पीपल मनुष्यों के लिये विशेष लाभदायक है। यह बात साइन्स के भी अनुकूल है। वेद भगवान् में इसका वर्णन आता है।

"अश्वत्थो देवसदनः" इत्यादि—

(अथर्व ५।४।३)

अर्थात्–पीपल देवताओं का घर है। तथा भगवद्गीता (अध्याय १०) में **"अश्वत्थश्चास्मि वृक्षाणाम्"** अर्थात्-वृक्षों में मैं पीपल हूँ ऐसा कहा है। साइन्स के मुताबिक पुरुषों की आरोग्यता के लिये जितना पीपल लाभदायक है उतना दूसरा कोई वृक्ष नहीं। हम नदियों में भी परमात्मा को व्यापक मानते हैं। वेदभगवान् में गंगा जी की पवित्रता का वर्णन किया है। साइन्स से भी गंगाजल की पवित्रता सिद्ध है। इस प्रकार सनातनधर्म परमात्मा को सर्व व्यापक मानता हुआ उसकी छवि को प्रत्येक स्थान पर देखता है। आर्यसमाज की पुस्तकों में कितनी ही जगह पर मूर्तिपूजा–अर्थात् जड़ वस्तु द्वारा चेतन ब्रह्म की पूजा–का विधान आता है। यह पुस्तक जो मेरे हाथ में है, यह सन् १८८२ जुलाई मास में स्वामी दयानन्द जी ने अपनी मृत्यु के कुछ मास पहिले छपाया था। इसका नाम 'संध्योपासनादि पंचमहायज्ञविधि' है उसमें लिखा है:–

"शुद्धि भूमि पर आसन बिछाय चन्दन अक्षत से पृथ्वी को पूजे 'ओम् पृथिव्यै नमः' इस मंत्र से, पुनः

आसन पर बैठे विभूति चन्दन आदि धारण कर शिखा बांधेः— (पृष्ट ३३)

यह हमने स्वामी जी की भाषा के शब्द सुनाए हैं। यह संस्कृत भाषा नहीं है कि जिससे अर्थ में गड़बड़ी हो सकती हो। भला! सोचिये तो सही कि जब स्वामी जी इतनी बड़ी पृथिवी की पूजा लिख रहे हैं तो फिर अगर सनातनधर्मी मिट्टी की छोटी सी डली के गणेश जी की पूजा करते हैं तो आर्यसमाजियों का इस पर आक्षेप क्यों? स्वामी जी की आज्ञानुसार हर एक समाजी को नित्य संध्या करते समय पृथिवी की पूजा करनी चाहिये। स्वामीजी इसी पुस्तक के पृष्ठ ३५ में लिखते हैं कि भगवान् की इस प्रकार की मूर्ति का ध्यान करे...

विष्णुं शारदकोटिचन्द्रसदृशं शंखं रथांगं गदा—
मंभोजं दधतं शिताब्जनिलयं कान्त्या जगन्मोहनम्।
आबद्धांगदहारकुण्डलमहामौलिस्फुरत्कंकणं,
श्रीवत्सांकमुदारकौस्तुभधरं वन्दे मुनीन्द्रैःस्तुतम्।

अर्थात्—मैं उस विष्णु भगवान् का ध्यान करता हूँ कि जो सुन्दर तेज वाला है, भुजाओं में शंख, चक्र; गदा, पद्म धारण किये हैं, सुन्दर भुजाओं में बाजूबंद गलेमें बैजयन्तीमाला और कौस्तुभ मणि सुन्दर आभूषण धारण किये है। पंडित जी! आप बताओ कि निराकार में यह गुण घट सकते हैं कि नहीं? अगर नहीं तो आप परमात्मा को साकार मान कर उसकी मूर्ति बनाकर पूजा करना क्यों नहीं मानते?

वहीं पर पृष्ठ ३४ में स्वामीजी लिखते हैं कि

"शीला को ध्यान कर सूर्य्यार्घ्यं देय (रविमण्डलस्थाय श्री वासुदेवाय अर्घ्यं कल्पयामि) इस मन्त्र से अर्घ्यं देके सूर्यमंडल में मूल देव को ध्यान करे" इत्यादि-

हमने स्वामी दयानन्द जी के भाषा के शब्द बांचकर सुनाये हैं, जनता इन शब्दों पर ध्यान देकर सोचे कि स्वामी जी कैसे स्पष्ट शब्दों में मूर्तिपूजा मानते हैं। पंडित जी! आप बताइये कि जब आर्यसमाज के कर्ता स्वामी दयानन्द सूर्य्य और चन्द्रमा द्वारा परमात्मा को अर्घ्य देने की क्रिया बताते हैं तो सनातनधर्मियों के मूर्तिपूजन पर आप का आक्षेप कैसे हो सकता है।

यजुर्वेद भाष्य...(स्वामी दयानन्द कृत) पृष्ठ ४१४ अध्याय १२ मन्त्र ७० का अर्थ स्वामी दयानन्द जी इस प्रकार करते हैं।

"सब अन्नादि पदार्थों की इच्छा करने वाले विद्वान् मनुष्यों की आज्ञा से प्राप्त हुवा जल वा दुग्ध से पराक्रम सम्बन्धी सींचा वा सेवन किया हुवा पटेला घी तथा शहत वा शक्कर आदि से संयुक्त करे पटेला हम लोगों को घी आदि पदार्थों से संयुक्त करेगा।"

यहां पर यदि पटेले का पूजन नहीं तो फिर मधुशक्कर आदि चढ़ाने का क्या कारण? घी और पानी लगाने का तात्पर्य तो यह बताया जा सकता है कि पटेला फट न जाय परन्तु शक्कर और मधु लगाने का क्या कारण? जड़ वस्तु (पटेला) लोगों को घी वगैरह पदार्थों से किस प्रकार संयुक्त कर सकता है? क्या वह गाय या भैंस है?

संस्कार विधि [पृष्ठ ७४ मुंडन प्रकरण संकरण संस्कार] लिखा है कि–

"ओम् ओषधे त्रायस्व एनं मैनं हिंसीः

(यजु० अ० ४ मं० १)

अर्थात्---हे औषधि इस बालक की तू रक्षा कर। और तू इसको मारना नहीं।

क्या घास इन प्रार्थनाओं को सुनता है ? घास जड़ पदार्थ है चेतन ? वह बालक की रक्षा किस प्रकार कर सकता है ? इसी पृष्ठ पर उस्तरे की प्रार्थना इस प्रकार की है—

ओं---विष्णो दंष्ट्रोसि---इत्यादि

(मं० अ० १। ४। ६)

अर्थात्--हे उस्तरे तू विष्णु की दाढ़ है। हे भगवन् मैं आपको नमस्कार करता हूं।

इन बातों पर आर्यसमाज को विचार करना चाहिये।

(घन्टी)

पं० बालकृष्ण जी पहली बार (टाइम ३-५)

महाशयो ! मूर्तिपूजा की सिद्धि में जो कुछ पं० जी ने कहा सो आपके ध्यान में आया। ब्रह्म तो मूर्त और अमूर्त है। मूर्ति पूजा के आरम्भ में 'द्वे' और 'रूपे' ये द्विवचन हैं उनको आपने एक वचन कहा--अफसोस !--आप बारंबार सनातनधर्म सना-

तनधरम कहते हैं,[1] साधारण आदमी बोले तो कुछ हर्ज नहीं किन्तु आप विद्वान् होकर ऐसा बोलते हैं क्या यह आप को मुनासिब है ! दूसरे हमने आपको तारीख ६ । ८ । २७ के पत्र में लिखा था कि "मूर्तिपूजा" या "साकार निराकार" इन दो में से कोई भी एक विषय ले सकते हैं । आपने मूर्तिपूजा का विषय निश्चय किया था । परन्तु अब साकार और निराकार विषय पर भाषण किया, यह आपको खासकर याद रखना चाहिये कि ऐसा होना विषयान्तर है । माता के शरीर के विषय में जो कहा सो अयुक्त है । शरीर जड़ और आत्मा चेतन है, जब शरीर का पूजन होता है तब आत्मा प्रसन्न होता है यह आप का दृष्टान्त उचित नहीं । इसका कारण यह है कि जो कोई अधम पुत्र उस माता के शरीर को लात मारे तो माता को दुःख होता है, इसी प्रकार मूर्ति को भी जब कारीगर बनाता है तब उसके हथौड़ी चोट से परमात्मा को भी दुःख होता होगा ! और वह रोता भी होगा !! साकार और निराकार का विषय होता तो उसका खण्डन कर के मैं बता देता ।

आप मूर्ति से परमात्मा की पूजा करते हैं भला ! जरा पूछो तो सही-यहां पर एक मन्दिर बन रहा है, मूर्तियें भी कितने ही वख्त से ऐसी पड़ी हैं । सुनने में आया है कि कोई विद्वान् नहीं मिला कि जो उनकी प्राण प्रतिष्ठा करता । वताइये आप कैसे कहते हैं कि परमात्मा मूर्ति में व्याप्त है ? नहीं ! आप पुराण आदि के मन्त्रों से मूर्ति में परमात्मा को बुलाते हो ! जब वह आ जाता है तब उसकी पूजा की जाती है । बड़े बड़े मन्दिर बनाये जाते हैं, जिन में हजारों रुपया खर्च होते हैं । किन्तु यदि एक

टि०—([1]) समाजी को सुनने में भ्रम हो रहा है ।

कांच के टुकड़े को लेकर हम मूर्ति पर एक घिस्सा लगावें तो क्या मूर्ति को दुःख होगा ? अथवा बदले में मूर्ति हमें कोई दुःख देगी ? परमात्मा सर्वव्यापक है ? तो फिर मूर्ति की पूजा क्यों करनी चाहिये ? मूर्ति के कपड़े जेवर वगैरः चोर ले जाते हैं और जब कोई मंदिर का पुजारी कहीं बाहर जाता है तो मन्दिर को बन्द करके ताला लगाकर बाहर जाता है। बताइये ! यह बन्धन क्यों ? मूर्ति में परमात्मा हो तो क्या अपने को बचा नहीं सकता! आपने ऐसा एक भी प्रमाण नहीं दिया कि जिसमें काष्ठ पाषाण वगैरः पूजने को कहा गया हो। भला आप बतावें कि मूर्ति जड़ है कि चेतन ? अगर चेतन है तो जब उसे मन्दिर में बन्द किया जावेगा तब वह शोरगुल मचावेगी, इसलिये आप अपने भक्तों को कहो कि प्राणप्रतिष्ठा की जरुरत नहीं। जब कभी मूर्ति की उंगलियें या पैर टूटजाता है तो उसे हटाकर दूसरी मूर्ति बिठाते हो। इसका क्या प्रयोजन ? परमात्मा तो सब जगह व्याप्त है। उसको सर्वत्र मानकर ध्यान करना चाहिये। मूर्ति को आप नैवेद्य वगैरः किस लिये रखते हो ? एक स्थान में बैठकर परमात्मा का ध्यान हो सकता है तो फिर मूर्ति की क्या जरुरत है ? इंद्रियों को रोक कर मनको स्थिर करना अथवा परमात्मा में मन स्थिर कर के एकाग्र बनकर मनको परमात्मा में लगाने का नाम ध्यान है। योगसूत्र का प्रमाण है—

"ध्यानं निर्विषयं मनः"

चित को एकाग्र करना तो जरुरी है परन्तु उसमें ऐसा नहीं लिखा है कि उसकी मूर्ति बनाकर पूजा करो। जो साधन करना हो तो अपना इष्ट अनुसार कोई चीज पकड़ लो। यह काम

घड़ियाल वगैर से भी लिया जा सकता है, आप इतनी ज़्यादा मूर्ति बनाकर किस लिये पैसा बिगाड़ते हो ?

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने उपासना की व्याख्या की है कि—

उपासनं नाम यथा शास्त्रम् ।

अर्थात्–शास्त्रानुसार एकान्त स्थान में बहुत देर तक बैठ कर तेल की धार माफक मन लगाना वह उपासना है। चेतन वस्तु छोड़ कर अचेतन वस्तु में ध्यान लगाना यह तो अज्ञानी का काम है। इससे परमात्मा नहीं मिलता। उसका कोई रूप नहीं–इसलिये रूप नहीं रखना चाहिये। आचार्य ब्रह्मलोक का स्वामी है वह प्रभु है। जो उसकी सेवा करे तो वह प्रसन्न होकर परमात्मा की पहिचान करवाता है। इसलिये आप जो कहते हैं वह हमारे ध्यान में नहीं आता।

यदि प्रधान जी मुझे आज्ञा देवें तो साकार का खंडन कर के बताऊं। ऐसा नहीं समझिये कि मैं खण्डन करने की शक्ति नहीं रखता। आप कहते हैं कि स्वामी दयानन्द ने पृथिवी पूजा चंद्र-पूजा करने की आज्ञा दी है। किन्तु वह हमारे किसी पुस्तक में नहीं है। दयानन्द भाष्य और सत्यार्थप्रकाश में उसका नाम भी नहीं है। जिस पुस्तक का आप जिकर करते हैं वह हमारे काम की नहीं। सत्यार्थप्रकाश ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में से अगर आप प्रमाण देकर खंडन करें तो मान सकते हैं।

स्वामी दयानन्द जी ने रीढ़ की हड्डी में मन टिकाना तो अवश्य लिखा है परन्तु यह तो नहीं लिखा कि गंध अक्षत आदि चढ़ाओ। कोई सनातनधर्मी कहता है मूर्ति की पूजा, कोई कहता

मूर्ति में ईश्वर पूजा–यह हमारी समझ में नहीं आता। मूर्ति कुछ खाती पीती तो है नहीं परन्तु आप उसके सामने प्रसाद धूप दीप आदि क्यों चढ़ाते हो ?

छुरे की बात जो आपने कही सो ठीक नहीं। अगर आपने वेद अर्थ करने की शैली देखी होती तो ऐसा नहीं कहते क्योंकि जिस मन्त्र में जिस वस्तु का उपयोग होता है, वह उसका देवता होता है। जब ऐसी बहुत सी बातें यास्काचार्य वगैरा कहते हैं तो इससे मूर्तिपूजा किस प्रकार सिद्ध हो सकती है, क्योंकि जड़ चेतन हो नहीं सकता। जड़ पदार्थ में तो मध्यम पुरुष है। नमस्ते का अर्थ क्या है ? यदि आपने स्वामी दयानन्द का अर्थ लिया होता, तो ऐसा कभी नहीं कहते। नमस्ते का इस प्रकार का अर्थ है। उसका अर्थ वज्र भी है। क्या वहां शिर झुकाना लिखा है। काष्ठ पाषाण का पूजन करना कहीं भी वेद में नहीं लिखा। इसलिये उसका ध्यान करना यह अविद्या है फिर किस लिये लोगों को अविद्या रूपी खड्ढे में डालते हो ?

नक्शे की बात जो कही वह तो संकेत मात्र है जैसे परमेश्वर का नाम ओम् है, और जो लिखा जाता है वह उसका संकेत है। संकेत वाली आकृति से परमात्मा नहीं मिल सकता।

कपिलदेव माता को कहते हैं कि जो सर्व व्यापक परमामा को छोड़ कर मूर्ति में उसको मानते हैं वे मूढ़ हैं। टीकाकार श्रीधर स्वामी कहते हैं कि जो मनुष्य काष्ठ पाषाण वगैरा में परमात्मा बुद्धि करते हैं वे लोग पशु जाति में बोझा उठाने वाले गधा रूप हैं।

और दूसरे मनुष्य भी कहते हैं कि मूर्ति को देवता मानना मूर्खता का काम है। पुराण भी बताते हैं कि मूर्तिपूजा अति

अधम हैं। गुरु रामदास कहते हैं कि मूर्ति को मत मानो। तो मैं पूछता हूँ कि मूर्तिपूजक क्या अधम से अधम मूर्ख गधे हैं ? सिक्ख लोग भी मूर्ति को नहीं मानते। मुसलमान भी नहीं मानते और आपके आचार्यों ने भी मूर्तिपूजकों को अधम, मूर्ख, गधा, कहा है। क्या कहीं ऐसा भी लेख है कि जिसमें ब्रह्म उपासक को मूर्ख अथवा गधा कहा हो।

पं माधवाचार्य जी दूसरी बार (टाइम ३-३५)

हम पण्डित जी से ऐसी आशा नहीं रखते थे कि वे शास्त्र-विरुद्ध और प्रकरण विरुद्ध बातों का अडंगा लगाएंगे। पण्डित जी कहते हैं कि यजुर्वेद से ब्रह्म के अमूर्त और मूर्त दो रूप बताना विषयान्तर है। भला ! जब हम ब्रह्म की मूर्ति की पूजा सिद्ध कर रहे हैं तो फिर हम ब्रह्म की साकारता क्यों न सिद्ध करें ? पण्डित जी बताते हैं कि हथौड़े से मूर्ति को बनाते वक्त उसको कष्ट होता होगा ! शोक है कि हमारे सिद्धान्त को यथार्थ रूप में न समझने से ऐसा आक्षेप किया गया है। हम कह चुके हैं कि मूर्ति परमात्मा की पूजा का एक साधन है, हथौड़े में भी परमात्मा व्यापक है और मूर्ति में भी है। भिन्न वस्तु भिन्न वस्तु को दुःख दे सकती है, परन्तु जब हथौड़ा और मूर्ति दोनों जड़ वस्तुओं में एक ही परमात्मा व्याप्त है, तो फिर हथौड़े से मूर्ति को दुःख किस प्रकार हो सकता है। मनुष्य को अपने शिर का भार नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि वह उससे भिन्न नहीं, परन्तु एक पगड़ी का भार तुरन्त मालूम पड़जाता है, क्योंकि पगड़ी नामी कोई वस्तु हमसे भिन्न है। जैसे पत्थर में परमात्मा व्यापक है वैसे ही हवन की सामग्री और अग्नि में भी, मूर्ति को बनाते समय हथोड़े

से काष्ठ आदि का आक्षेप अगर आर्यसमाज हमारे ऊपर करता है, तो क्या हवन की सामग्री में व्यापक परमात्मा को आर्यसमाज अग्नि में जलाने का पाप करने वाला नहीं बनता ? क्यों आप हमेशा हवन करते समय व्यापक परमात्मा को अग्नि में जलाते हो ? भला ! जब आप पृथ्वी पर चलते हैं तो क्या उस में परमात्मा व्यापक नहीं है ? और जब आप बूट पहिन कर चलते हैं, तो क्या परमात्मा की बे-अदबी करते हो ? और क्या उसे कष्ट नहीं होता होगा ?

पण्डित बालकृष्ण जी ने आक्षेप किया है कि "अगर मूर्ति के आभूषण वस्त्र वगैरा चुराए जावें तो मूर्ति किसी को मारती नहीं है और अपनी रक्षा नहीं कर सकती" पण्डित जी की यह दलील नास्तिकों की दलील है। पण्डित जी ! मैं तो ऐसा कहने का साहस नहीं कर सकता-परन्तु यदि कोई नास्तिक आपके पास निराकार ब्रह्म को हजार गाली देवे तो क्या निराकार उसी समय मनुष्य को दंड देगा ? जो नहीं-तो क्या इससे यह साबित हुवा कि निराकार ब्रह्म है ही नहीं ?

दूसरी बात पण्डित जी ने यह कही कि "मूर्ति टूट जाय तो उसकी पुनः प्रतिष्ठा की जाती है" यह बात बिलकुल ठीक है, इस पर आपका आक्षेप किस लिये ? मैंने नक्शे का दृष्टान्त देते समय बताया था कि नक्शे के लिये कपड़ा, रूलर, हासिया, रंग आदि चीजें नक्शे की रक्षा के लिये जरूरी हैं-अगर नक्शा फट जाय तो जरूरी है कि उसको बदल दिया जावे, कारण यह कि फटे हुवे और मैले नक्शे से काम नहीं चलता। यह नीतियुक्त बात है। आपने जो स्वामी शंकराचार्य भाष्य का प्रमाण देते समय कहा था कि तेल की धार के माफिक मनकी वृत्ति को

बांधना चाहिये" यह बात सत्य है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि तेल की धार माफिक मनोवृत्ति को किस साधन द्वारा बनावे ? इसी के लिये तो मूर्तिपूजा को आवश्यकता है। आपने जो श्रीमद्भागवत के तीसरे ग्यारहवें स्कंध में से प्रमाण देते हुवे यह कहा था कि "जड़ में पूज्य बुद्धि करने वाला मूर्ख होता है" यह बात सत्य है। हमको इस विषय में कोई विरोध नहीं। जड़ में पूज्य बुद्धि रखने वाले बेशक मूर्ख हैं, परन्तु वे मनुष्य मूर्ख नहीं कहलाते जो चेतन में पूज्य बुद्धि रखते हैं। हम मूर्ति को चेतन तो नहीं कहते किन्तु उसे चेतन ब्रह्म की प्राप्ति का साधन मानते हैं। और मूर्ति में व्यापक जो चेतन परमात्मा है उसमें ही पूज्य बुद्धि रखते हैं। और जो आपने कहा कि ब्रह्म की मूर्ति है, तो इससे साबित होता है कि आप ब्रह्म के स्थान में आचार्य की मूर्ति को ब्रह्म मानते हो, तो क्या आचार्य के मर जाने से ब्रह्म भी मर जाता है ? आचार्य को कष्ट होने से क्या ब्रह्म को भी कष्ट होता है ? आचार्य के शरीर में मल मूत्रादि अनेक विकार हैं—क्या ब्रह्म में भी ऐसे विकार हो सकते हैं ? आप एक मल मूत्र से भरे हुए मनुष्य को ब्रह्म के स्थान में मानते हो, जो कि प्रसंगशात्, दुराचारी, भ्रष्टाचारी भी बन सकता है—परन्तु सनातनधर्मियों की मूर्ति शुद्ध पवित्र पाषाण की बनी होती है। जो सदैव निर्लेप रहती है और जिसमें किसी प्रकार की दुर्गन्धी वगैरा नहीं होती, और जिसकी स्थापना भी वेद मन्त्रों द्वारा शुद्ध भाव से की जाती है, उसके ऊपर जो आक्षेप किया जाता है वह किस लिये ?

आपका यह उत्तर बहुत ही आश्चर्यजनक है कि मैंने जो स्वामी दयानन्द कृत पुस्तकों में से मूर्ति पूजा बताई वह पुस्तकें

आपके काम की नहीं, भला यह क्यों ? देखिये यह पुस्तक जो मेरे हाथ में है आप बांचिये ! यह नवल किशोर प्रेस लखनऊ में छपा है और स्वामी दयानन्द ने खुद अपने मरण के थोड़े समय पेश्तर जुलाई १८८२ में प्रकाशित किया था, तो फिर आप उसको किस कारण मान्य नहीं मानते ? आप इस सत्यार्थप्रकाश को तो मानते हैं जो बहुत से प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है—कि स्वामी दयानन्द कृत नहीं है किन्तु उनकी मृत्यु के पीछे इलाहाबाद आर्यसमाज ने अपने मनमाने सिद्धांत बनाकर छाप दिया है। सत्यार्थप्रकाश की पहिली आवृत्ति और मौजूदा आवृत्ति दोनों का मुकाबिला करके देखिये।

आपका यह प्रश्न है कि 'मूर्ति को भोग लगाया जाता है, तो मूर्ति खाती है या नहीं' इस बात का प्रमाण स्वामी दयानंद जी के लिखे हुवे वेद में से देता हूँ, आप नोट करें। (पण्डित जी हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप भी जो प्रमाण दिया करें वह हमारी तरह ग्रन्थों का नाम पता बता कर दिया करें। आपने अभी तक जो कुछ भी कहा उसमें किसी भी ग्रन्थ का पते सहित एक भी प्रमाण नहीं दिया)

वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः, तेषां पाहि श्रुधि हवम् ॥

(ऋ० १-१-३-१ आर्याभिविनय पृष्ठ ३३)

अर्थात्—हे अनन्तबल ! परेश ! वायो ! दर्शनीय! आपकी कृपा से ही हम लोगों ने अपनी अल्प-शक्ति से सोम (सोम वल्ल्यादि) औषधियों का उत्तम रस सम्पा-

दन किया है। जो कुछ श्रेष्ठ पदार्थ हैं, वे आपके लिये उत्तम रीति से हमने बनाये हैं। और वे सब आपके समर्पण किये गये हैं। उनको आप स्वीकार करो। यानि सर्वात्मा से पान करो।

पण्डित जी ! जब आर्यसमाजियों की प्रार्थना पर निराकार परमात्मा आपके यहां सोम औषधियों का रस (गिलोय का काढ़ा) पीने को आता है तो क्या सनातनधर्मियों की प्रार्थना से मिष्ठान्न आदि भोग को भी स्वीकार नहीं कर सकता ! जैसा आपका जवाव होगा वैसा ही हमारा भी जबाब होगा। उस्तरे को जो आपने मन्त्र का देवता माना है, समाजियों का यह देवता खूब विलक्षण है !! आपने नमस्ते का अर्थ भी वज्र किया है वह भी बहुत सरस है !!! जनता को यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि नमस्ते का अर्थ वज्र है। आपने कहा कि "ओम् के आगे मस्तक नहीं नमाते" क्या यह बात ठीक है ? हमको इससे बड़ा आश्चर्य होता है। भला ! जब कांगड़ी में गुरुकुल की वेदीपर वेद को जल्से का प्रधान बनाया था, (देखिये 'वेद-प्रकाश' १९१६ पृष्ठ १२७) तो इससे क्या प्रयोजन था ? क्या वेद पुस्तक चेतन हैं ? जो जनता को काबू में रख सकते ! अब बताइये कि आर्य-समाज वेदभगवान् की पुस्तक में चेतन बुद्धि रखकर पूजा करता है या जड़ बुद्धि ?

यह बात तो हम स्वीकार करते हैं कि भागवत के प्रमाणानुसार जड़ में पूज्य-बुद्धि रखनेवाले अवश्य मूर्ख हैं। इसमें हमें कुछ विवाद नहीं है परन्तु जड़ में पूज्य-बुद्धि रखने का आक्षेप तो आर्यसमाज पर ही आता है। हम तो मूर्ति व्यापक चेतन में

ही पूज्य-बुद्धि रखते हैं, रही अब पत्थर की बात—एक छोटे पत्थर को पूजा जाता है और बड़े-बड़े पहाड़ों को नहीं, इस सम्बन्ध में दृष्टान्त रूप से, देखिये कि बाजार में एक पैसे में ही कई कागज मिलते हैं, परन्तु कागज का एक छोटा-सा टुकड़ा जिसके ऊपर गवर्नमेंन्ट……… (घण्टी बज जाने से पण्डित जी अपना दृष्टाँत पूरा नहीं कर सके)

पं० बालकृष्ण जी दूसरी बार (टाइम ३-३५०)

महाशयो ! सुनने लायक बात है। फिर भी इस बात को विषायांतर करके कहा—परमेश्वर मूर्त और अमूर्त होता है। देखो कैसी मजे की बात है। आपको तो मूर्ति-पूजा सिद्ध करनी थी आपने तो ईश्वर के कई रूप बना दिये, जब इस विषय पर शास्त्रार्थ होगा तब इसका उत्तर उसी समय दूंगा।

पण्डित जी माता का दृष्टान्त भूल गये। माता के कान, नाक काट डाले तो उसको दुःख होगा, इसी प्रकार जब मूर्ति बनवाने वाले ने मूर्ति में हथौड़ा मारा, तब उसको भी दुःख हुवा होगा।

आप कहते हैं कि परमेश्वर निर्लेप है तो फिर आपने माता का दृष्टान्त किस लिये दिया ! आपने क्यों नहीं स्वीकार किया कि मेरा दृष्टाँत ठीक नहीं ! आप कहते हैं कि 'हमारा परमात्मा निर्लेप है' निर्लेप है तो नैवैद्य आदि किस लिये धरते हो ? प्रतिष्ठा की बाबत हमारे प्रश्न का उत्तर कुछ नहीं दिया। जिस समय मुसलमान बादशाहों ने मूर्ति तोड़ी और उनमें से मोती जवाहिरात वगैरा ले गये, उस वक्त मूर्ति में अगर कुछ ताकत थी तो उन बादशाहों का कुछ क्यों न कर सकी ? आप उलटे

हम से प्रश्न करते हैं कि जो कोई नास्तिक परमात्मा को न माने तो आपका परमात्मा उसका क्या करलेगा, सुनिये ! हमारा परमात्मा उसको दूसरे जन्म में उसके कर्मानुसार फल देगा। देखिये-गुजारात प्रान्त में में बाढ़ आ गई है, यह परमात्मा ने फल दिया है।[1] अथवा किसी पापी को सुखी देखो तो समझलो कि उसके पूर्वजन्म के कर्मों का अच्छा फल है और उसी से वह सुखी है। जब उसका पुण्य प्रवाह खतम होगा तब उसको दुःख होवेगा, और जब परमात्मा सर्वव्यापक है तब एक पत्थर के टुकड़े की मूर्ति को परमात्मा किस प्रकार माना जासकता है। और आप सवव्यापक मानते हुवे भी समाजियों को क्यों तंग किया करते हैं ? और उन पर कटाक्ष क्यों करते हो ? इन में भी परमात्मा व्यापक है, इन की भी पूजा करो !

महाशयो ! सर्वव्यापकता का यह अर्थ नहीं है, और हम अभी कहते भी नहीं हैं। जब साकार निराकार पर शास्त्रार्थ होगा तब कहेंगे। स्वामी शंकराचार्य जी कहते हैं कि—"पाँच इन्द्रिय वाला जैसा मनुष्य का शरीर बनता है, परमात्मा का ऐसा ही शरीर बनजायगा, ऐसा नहीं होगा। क्यों नहीं बने-इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य जी अपने भाष्य में कहते हैं कि जिस प्रकार शरीरधारियों को दुःख होता है उसी प्रकार परमात्मा को भी दुःख होगा।

(मनुस्मृति में कुल्लूक भट्ट कहते हैं कि—) परमेश्वर ने कहा है कि मैं अपने शरीर से संसार उत्पन्न करता हूँ। प्रकृति यह

टि०–([1]) जिस गुजरात प्रान्त में दयानन्द के समान मूर्तिपूजा का विरोधी पैदा हुवा हो–सम्भव है उस एक के पाप का फल प्रान्त भर को भोगना पड़ा हो।

अव्यक्त परमात्मा का शरीर किस प्रकार बना ? प्रकृति उसका वास्तविक शरीर नहीं है। प्रकृति को परमात्मा का शरीर इस लिये कहा है कि परमात्मा प्रकृति में स्थित है। परन्तु प्रकृति परमात्मा को नहीं जानती, इस लिये ऐसा कहा है। यह माता के शरीर जैसा नहीं है।

मूर्ति के जिह्वा कान आदि हैं ? जो आपके नैवेद्य वगैरा को ग्रहण कर सके। कठोपनिषद् में कहा है कि परमात्मा रस का विषय नहीं है कि जो चाख सके। यह बात सत्य है कि परमात्मा सर्वत्र है। फूलमें भी परमात्मा है, मूर्ति में भी है, आप फूल को मूर्ति पर चढ़ाते हो तो मानों परमात्मा के ऊपर परमात्मा को चढ़ाते हो अथवा परमात्मा सर्वव्यापक है तो फूल को परमात्मा पर चढ़ाने की क्या जरूरत ? आप कहते हैं कि हम भावना से ऐसा करते हैं, कुछ नहीं ? यह भावना मिथ्या है। एक कड़वे फल में मीठेपन का भाव करने से वह मीठा नहीं हो सकता एक मनुष्य बाजार में गया और मिसरी के भाव से भूल में फटकरी खरीद लाया, और मिसरी के भाव से ही परमात्मा को भोग लगाया। जब सब भक्तों को प्रसाद बंटा तो सबने थू, थू करके निकाल दिया (लोगों में हंसी) वह मिसरी नहीं बन सकी कारण कि भावना मिथ्या थी। बड़े से बड़ा १०,००० का नोट होता है, जिस प्रकार हुंडी प्रतिष्ठित व्यापारियों की स्वीकार होती है। जो मूर्ति भी उसी प्रकार हुंडी हो तो जिस प्रकार प्रतिष्ठित व्योपारी के हाथ की हुंडी सिकारी जाती है। ऐसे ही आप भी वेद भगवान् का प्रमाण दो, जिससे आपकी मूर्ति को हम माने !

आपने पटेले की पूजा कहां से सोध निकाली ? दयानन्द ने तो फकत उसके ऊपर दुग्ध, मधु, घी वगैरा रखने को कहा है न कि उसकी पूजा करने को, (जनता में हास्य) इस कारण आपका प्रमाण निष्फल है। और अगर हिम्मत हो तो वेद का प्रमाण दीजिये। कोई नहीं आज तक बता सका। मुझे जो कहना था वह कह दिया फिर जो कहना होगा कहूंगा। (इस प्रकार कह कर पण्डित जी बैठ गये)—प्रधान जी ने कहा कि अभी आपके ५ मिन्ट बाकी हैं। पण्डित बालकृष्ण जी ने कहा कि अब मुझे अधिक कुछ नहीं कहना है—ऐसा कह कर बैठ रहे)

पं० माधवाचार्य जी तीसरी बार (टाइम ४)

महानुभाव ! मैंने स्वामी दयानन्द के शब्दों में मूर्तिपूजा का प्रमाण दिया, परन्तु उसका पण्डित जी ने स्पर्श भी नहीं किया स्वामी दयानन्द की बनाई हुई आर्याभिनय में से निराकार को जो सोमरस पिलाने को लिखा है उसका प्रमाण दिया उसका भी कुछ जवाब नहीं। संस्कार विधि पृष्ठ ६९ में स्वामी दयानन्द लिखते हैं कि—

"बालक की माता अंजलि भर कर चन्द्रमा के सन्मुख खड़ी रहे और यह मंत्र पढे "ओम् यददश्चन्द्रमसि कृष्णे" इत्यादि—इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल पृथ्वी पर छोड़ देवे"

ऐसे प्रमाण होते हुवे भी पण्डित जी मूर्तिपूजा अस्वीकार करते हैं। हम पूछते हैं कि आप स्वामी दयानन्द जी की संस्कार विधि में बताई हुई इन बातों का जवाब क्यों नहीं देते?

(१) मधु, दुग्ध, घी आदि से पटेले का पूजन, (२) दर्भ (कुशा) की प्रार्थना "हे औषधि तू इस बालक की रक्षा कर", (३) उस्तरे की पूजा—हे छुरे तू विष्णु की दाढ़ है, इस बालक को मत मार" (४) चन्दन अक्षत आदि से पृथ्वी की पूजा।

आपने जो परमात्मा के शरीर की बाबत कहा सो तो यजुर्वेद शतपथ शाखा पृष्ठ ७१९ में साफ लिखा है—

"यस्य पृथिवी शरीरं यस्यापः शरीरं यस्याग्निः शरीरम् । यस्य वायुः शरीरम् ।।

(शतपथ १४ । ६ । ७ । ६)

देखिये पण्डित जी ! वेद तो इतनी बड़ी मूर्ति मानता है और आप साफ इन्कार करते हैं। यह कहां की वेदज्ञता है ? अगर अधिक प्रमाणों की आवश्यकता हो तो यजुर्वेद का ३१ वां अध्याय पढ़ जाइये—उसमें परमात्मा के नाक, कान, आदि सर्व अङ्गों का वर्णन किया है। पत्थर का एक छोटा टुकड़ा और पहाड़ साधारण दृष्टि से तो दोनों बराबर हैं परन्तु जब किसी पाषाण मूर्तिपर वेद भगवान् की मोहर लग जाती है तो वह पूजने लायक हो जाती है। आपने बलपूर्वक हमसे मोहर लगाने का वेद भगवान् का प्रमाण मांगा है लीजिये प्रमाण ! अब इस प्रमाण की कीमत हम अवश्य लेंगे (जनता में हर्षध्वनि) यजुर्वेद शतपथ में पृष्ठ ६८० में लिखा है—

अथ मृत्पिण्डं परिगृह्णाति, तन्मृदश्चापां च महावीराः कृता भवन्ति। इत्यादि।

अर्थात्--मिट्टी का पिंड लेकर उस मिट्टी से महावीर की मूर्ति बनावे इत्यादि। क्यों पण्डित जी ! अब तो वेद की मोहर लग गई न ? हम अब तो वेद भगवान् की मोहर लगाने के बाद उसकी कीमत मांगते हैं। (जनता में फिर हर्षध्वनि) अब तो आपको मूर्तिपूजा से कोई इन्कार नहीं है ? जैसा कि नोट के दृष्टाँत में आपने खुद स्वीकार किया है। पण्डित जी ! हम तो मूर्तिपूजा के विधान में वेद भगवान् के मन्त्र देते हैं परन्तु आपने खंडन में एक भी प्रमाण नहीं दिया, आपने मुझे कहा कि 'माता का दृष्टान्त भूल गये । किन्तु ऐसा नहीं है। दृष्टान्त रूप से जितना मुझे प्रयोजन था यह सिद्ध हो गया। थोड़ा समय बाकी रहने के कारण उसको दूसरी बार नहीं कह सका। दृष्टान्त बिलकुल ठीक है। माता के शरीर की ही पूजा होती है और प्रसन्न होता है उससे चेतन आत्मा ! इस बात को मूर्ख-से-मूर्ख आदमी भी समझ सकता है। आपका उसपर आक्षेप क्यों ? आपने जो सर्व व्यापकता पर हंसी की कि 'इस प्रकार परमात्मा की अनेक मूर्ति बन जायंगी' यह बात आप जैसे विद्वान् के लिये ठीक नहीं। देखिये वेद भगवान् की भी यही शिक्षा है। इसके अतिरिक्त भक्त तुलसीदास जी भी पुकार-पुकार कर कह रहे हैं

सियाराममय सब जग जानी* करौं प्रणाम सप्रेम सुबानी।

यह ज्ञान उच्च कोटि का है, और ठीक है। हम संसारी जीव दुनियां में फंसे हुवे हैं। इस कारण इस कोटि तक नहीं पहुंच सके। इसका अनुभव करने को असमर्थ हैं। हमें आर्यसमाजियों में व्यापक ब्रह्म की भी पूजा करनी चाहिये यह बात सत्य है हमें आर्यसमाज से कोई विरोध नहीं और किसी प्रकार का द्वेष भी नहीं। हां ! विरोध है तो आर्यसमाज के वेद विरुद्ध कार्यों से है। आपने उस बात का कोई जवाब नहीं दिया कि गुरुकुल

की वेदी पर जो वेद को सभापति बनाया गया था उसका क्या प्रयोजन था ? वेद भगवान् की पुस्तक को जड़ मानते हो कि चेतन ? आपने एक प्रमाण में कुल्लूक भट्ट का नाम बड़े गौरव से लिया है, मालूम होता है कि आपको मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट अतिमान्य हैं, अगर हम मूर्तिपूजा के विधान में कुल्लूक भट्ट का प्रमाण देवें तो फिर आपका कोई आक्षेप नहीं रहेगा। लीजिये इस प्रमाण पर ही शास्त्रार्थ का फैसला हो जाना चाहिये ! (मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक १७६)

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनञ्चैव समिदाधानमेव च ।

(प्रतिमादिषु हरिहरादि देवपूजनमिति कुल्लूकभट्टः)

अर्थात्—प्रतिदिन स्नान करके देवर्षि पितृ तर्पण करे और हरिहर विष्णु और शिव की मूर्ति का पूजन करे।

अब तो आपके माननीव मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट के प्रमाण से मूर्तिपूजा सिद्ध हो गई (हर्षनाद)

वेद भगवान् में लिखा है कि जब मन्दिर की मूर्तियां हंसती, रोती या कांपती हुई मालूम पड़ें तो समझना चाहिये कि कोई विपत्ति आनेवाली है। उस वक्त सफेद सरसों से होम करके शाँति करे। आप यह प्रमाण नोट करो ! और उस का बराबर जवाब दो।

"देवतायतनानि कंपन्ते दैवतप्रतिमा हंसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति"

(षड्विंश ब्राह्मण ५-१०)

(१) चन्द्रमा का अर्घ (२) ध्रुव तारे का दर्शन (३) निराकार को सोमरस का भोग (४) धान कूटने का मूसल, (जूता) पटेला, कुश, (दर्भ) आदि की पूजा इत्यादि जो आपकी संस्कार विधि में लिखा है उसका क्या तात्पर्य है ? क्या यह जड़ वस्तुओं द्वारा चेतन ब्रह्म की उपासना नहीं है ?

संस्कार विधि [बलिवैश्वदेव] में लिखा है कि "मूसल के पास बलि राखे" भला ! यहाँ आप बताओ कि मूसल क्या उस वस्तु को खा सकेगा ? आपने ईश्वर के सर्व-व्यापक होने के उदाहरण में यह बात हंस कर टाल दी कि जब परमात्मा फूल में भी व्यापक है, और मूर्ति में भी, तो फूल को मूर्ति पर चढ़ाने से परमात्मा-परमात्मा पर चढ़ाया गया--आस्तिक लोग ऐसा आक्षेप करें यह उचित नहीं। यह तो बालकों जैसा प्रश्न भजनीक लोग किया करते हैं। और भजनीक लोगों को भजनीक लोग ही इसका जवाब दिया करते हैं। जैसे—

अजब हैरान हूँ भगवन् ! तुझे क्योंकर रिझाऊं मैं।
नहीं वस्तु कोई ऐसी जिसे सेवा में लाऊं मैं।।
तुम्हीं व्यापक हो फूलों में, तुही व्यापक है मूरत में।
भला भगवान् को भगवान् पर क्योंकर चढ़ाऊं मैं।।

—जब आर्यसमाज के भजनीक यह कहते हैं तो सनातन धर्मी भजनीक इसके उत्तर में इस प्रकार भजन गाते हैं।

तुही व्यापक है दांतों में, तुही व्यापक है बिस्कुट में।
भला भगवान् को भगवान् से क्योंकर चबाऊं मैं।।
तुही व्यापक है कुर्सी में, तुही व्यापक है मुझमें भी।

भला भगवान् को भगवान् पर क्योंकर बिठाऊं मैं ॥
तुही व्यापक है अग्नि में, तुही व्यापक सामग्री में ।
भला भगवान् को भगवान् में क्योंकर जलाऊं मैं ॥
(अट्टहास)

पंडित जी, वालकों जैसी बातें छोड़ दो, यहां वेद की चर्चा हो रही है। मूर्तिपूजा के खंडन में कोई वेद का प्रमाण दीजिए तो हम उसका उत्तर देवें। हमने मूर्तिपूजा के विधान में वेदों के कितने ही प्रमाण दिए हैं, परन्तु आपने उनका कोई उत्तर नहीं दिया, इससे यह साबित होता है कि आप उसको स्वीकार करते हैं।

देखिए शुक्रनीति पृष्ठ १४२—

देवालये मानहीनां मूर्तिं भग्नां न धारयेत् ।
प्रासादांश्च तथा देवां जीर्णानुद्धृत्य यत्नतः ॥

अर्थात्—(देवालय और मूर्तियों के सम्बन्ध में राजा का फर्ज बताया है कि) देयालय में टूटी-फूटी मूर्ति न रहने दे, और यत्न पूर्वक पुराने देव स्थानों का जीर्णोद्धार करवाए।

पं० बालकृष्णजी तीसरी बार (टाइम ४-१५)

महाशयो ! सुनिये-पंडित जी ने यजुर्वेद का प्रमाण देते हुए कहा था कि 'मृत्तिका लेकर छः महावीर की मूर्ति बनाये—मैं आपको प्रतिज्ञा पूर्वक कहता हूँ कि यह वहाँ नहीं है। वर्षों हो गए इस बात का उत्तर दे दिया गया है। जो छः महावीर है वह यज्ञ पात्र हैं, न कि मूर्ति। हमारे मित्र (मणिशंकर शास्त्री की तरफ

इशारा करके) इसको बांचकर सुनावेंगे—'सुनिये'। पं० मणि शंकर एक पुस्तक लेकर बांचने को उठे। पं० माधवाचार्यजी ने पूछा कि आपके हाथ में यह क्या पुस्तक है ? पं० मणि शंकर ने जवाब दिया कि "भास्कर प्रकाश"। पं० माधवाचार्य ने कहा कि आप यजुर्वेद शतपथ शाखा लेकर प्रमाण देवें। मैंने भी उसी से प्रमाण दिया है। न कि किसी ट्रैक्ट (Tract) से। अगर आप के पास वेद न हो तो हमारे पास से यह वेद लेकर आप स्वतंत्रता से अर्थ करो। पं० माधवाचार्य जी की बात अनसुनी करके निर्लज्जता पूर्वक भास्कर प्रकाश में से ही प्रमाण बांचने लगा— "मिट्टी का पिंड लेकर उसमें से एक महावीर बनावे यह महावीर······अंगुल लम्बा और··········अंगुल चौड़ा हो, और उसका शिर अन्दर से बैठा हुआ हो—महावीर का नाक ऐसा ऊंचा बनावें (जनता में हास्य) इस प्रकार महावीर नाम के पात्र यज्ञ में होने चाहिये"।

(जनता में हास्य)

(पं० बालकृष्ण बोले)। महाशयो ! ध्यान में रखना कि ऐसे बहुत से यज्ञपात्र हैं। इसमें मूर्ति का नाम निशान भी नहीं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि धातु के पात्र गरम हो जाते हैं काष्ठ का पात्र जल जाता है, इसलिये मिट्टी का पात्र बनाना चाहिए। ध्यान में रखिये कि इसमें मूर्ति का नाम भी नहीं है।

उस्तरे के सम्बन्ध में मैंने जवाब नहीं दिया था, तो मैं उस का अब जवाब देता हूँ, आप कहते हो कि उस्तरे को ऐसा कहते हैं कि "तू इसका शिर मत काटना" यह बात ठीक है। यथार्थ

में नाई को कहा जाता है कि छुरे को इस प्रकार चलाना कि बालक का सिर न कट जावे।

आप एक समय ऐसा कहते हो कि मूर्ति में—और फिर ऐसा भी कहते हो कि मूर्तिद्वारा परमात्मा की पूजा होती है। अगर ब्रह्म के स्थान में मूर्ति मान लेवें, तो ब्रह्म जड़ हो जाता है। मूर्तिपूजक महाशयो! आर्यसमाज के साथ शास्त्रार्थ करते हुए यह बात आ गई है, अब भी उसको भोग लगाओगे, पलंग लोटा, दातन वगैरः रखोगे। यह सब किस लिये ?

आपने पुरुषोसूक्त का प्रमाण दिया—ओहो! हो !! पुरुष सूक्त के प्रमाण को भी मूर्ति पूजा में! "सहस्र शीर्षा" आदि मंत्र से परमात्मा मूर्तिमान् सिद्ध होगा ? इस मंत्र के सम्बन्ध में आपके आचार्य महीधर का भाष्य तो देखिये। आप कहते हो कि हजार शिर वाला परमात्मा है, तो क्या वास्तव में परमात्मा के हजार शिर हैं ? नहीं नहीं इसका अर्थ इस प्रकार है कि हमारे सबके शिर उसके अन्दर होने से वह हजार शिर वाला माना जाता है, इसी प्रकार हाथ पैर वगैरा, इसीलिए कहा है कि परमात्मा के एक पैर में सम्पूर्ण संसार है। और तीन पैर शून्य हैं। तो इससे क्या समझना चाहिए। क्या वास्तव में परमात्मा के चार भाग हैं ? वेदांत में तो कहा है कि परमात्मा सत् और अनन्त है। तो इसके विभाग किस प्रकार हुवे ? इसका उत्तर केवल यही है कि परमात्मा जगत् की अपेक्षा इतना बड़ा है कि जगत् उसके एक पैर में समा जाता है, अवश्य ही वह अनन्त है। देखिये यहां परमात्मा की साकारता नहीं मानी गई है। अगर मानो तो बर्लिन और कलकत्ता के छपे हुवे वेदभाष्य में ऐसा लिखा है कि हे परमात्मा! आपके

दो रंडियां हैं" उसको भी सत्य मानो। मैं बम्बई के निर्णय-सागर प्रेस में गया और पूछा कि "वश्य" शब्द का अर्थ रंडी किस प्रकार किया।[1] (घन्टी)

पं० माधवाचार्य जी चौथी बार (टाइम४-३०)

उपस्थितगण ! यह मेरा इस शास्त्रार्थ में आखिरी भाषण का समय है। मैं बल पूर्वक कहता हूँ और जनता का इस तरफ ध्यान खींचता हूँ कि मूर्तिपूजा की पुष्टि में वेद से जो जो प्रमाण मैंने दिये हैं और दयानन्द कृत ग्रन्थों से भी मूर्तिपूजा बताई है। तथा वेद में से मूर्ति बनाना सिद्ध करके दिखाया है, मेरी इन सब बातों का किसी प्रकार भी खण्डन नहीं हो सकता। आर्यसमाज के पास इन बातों का कोई भी उत्तर नहीं है। पटेले का पूजन, चन्द्रमा को अर्घ देना, पण्डित जी ने मेरी इन बातों को बिल्कुल स्पर्श भी नहीं किया। पण्डित जी कहते हैं कि संस्कार विधि में उस्तरे का पूजन नहीं बताया है बल्कि जो प्रार्थना यहां की गई वह छुरे को चलाने वाले हजाम से की गई है। जनता को पण्डित जी के इस जवाब पर खूब विचार करना चाहिये। स्वामी जी ने यहाँ जो शब्द लिखे हैं उनका साफ मतलब है कि "हे छुरे ! तू विष्णु की दाढ़ है, इस बालक को मारना नहीं" क्या आर्यसमाज हजाम को विष्णु की दाढ़ समझता है ? स्वामी जी के साफ शब्द हैं कि "हे छुरे ! नमस्ते अस्तु

नोट—([1]) हमने यहां पंडित जी का भाषण अक्षरशः उद्धृत किया है, परन्तु उनके कहने का तात्पर्य क्या है यह वही समझते होंगे यदि यजुर्वेद के "श्रीश्च ते" मन्त्र के "वश्ये" पद के बदले "वेश्ये" होने का भ्रम हो तब भी इसका शास्त्रार्थ के साथ कोई संबन्ध नहीं।

भगवन् !' अगर यह प्रार्थना हजाम की होती तो यहां छुरे के बदले हजाम का नाम होता। संस्कार विधि में कुशा (दर्भ) से भी प्रार्थना की गई है। छतरी जूता लाठी वगैरह की भी पूजा बताई गई है।

मनुस्मृति (कुल्लूक भट्ट भाष्य) के पृष्ठ ७४ का प्रमाण देते हुवे मैंने बताया था कि वहाँ स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'प्रतिमा में हरि हर की पूजा करे' आशा है कि पण्डित जी को इस प्रमाण से शान्ति हो गई होगी। क्यों कि आपने उसके बारेमें कोई भी जवाब नहीं दिया। मैंने वेद में से प्रमाण देते हुवे बताया था कि मूर्ति बनाने की विधि वेद में स्पष्ट लिखी है। मैंने वेद में से प्रमाण दिया और पण्डित जी भास्करप्रकाश नामा ट्रैक्ट (Tract) बाँच कर जवाब देते हैं, विद्वानों के लिये यह बात शोभास्पद नहीं है। अगर उनके पास वेद की पुस्तक नहीं थी तो हमारे पास से ले सकते थे। और मन्त्र बांच कर उसका अर्थ खुद पण्डित जी अच्छे प्रकार कर सकते थे। अब भी मैं उनकी सेवा में वेद का पुस्तक भेजदूं और पण्डित जी मन्त्र बांच कर खुद अपना अर्थ करें और देखें कि इस मन्त्र में मूर्ति बनाने की विधि किस प्रकार स्पष्ट बताई है। पण्डित जी कहते हैं कि यज्ञ के पात्रों का नाम महावीर है। यज्ञ में रक्खे हुवे घड़ों लोटों आदि पात्रों का नाम आर्यसमाज में ही 'महावीर' होता होगा ! फिर क्या यज्ञ में एक ही पात्र होता है? पण्डित मणिशङ्कर जी ने बांचा है कि उनका अमुक प्रकार का नाक होना चाहिये अमुक प्रकार का शिर होना चाहिये इत्यादि—क्या यज्ञ पात्रों के नाक और शिर होता है?

पण्डित जी ! इस मन्त्र में स्पष्ट रीति से मूर्ति बनाने का विधान है। जिन मूर्तियों की यज्ञ में स्थापना कर पूजा की जाती

है। आप किस लिये ऐसी बातें बनाकर सत्य से भागते हो ? और व्यर्थ समय व्यतीत करते हो। हमारे प्रश्नों का जवाब आप क्यों नहीं देते। मैने स्वामी दयादनन्द कृत ग्रन्थों में से कितने ही प्रमाण देकर मूर्तिपूजा सिद्ध की। कृपा करके आप उन बातों का जवाब देवें।

मैंने पिछली बार वेद में से प्रमाण देकर परमात्मा का शरीर सिद्ध किया था। पण्डित जी ने उसका अब तक कोई उत्तर नहीं दिया। आर्यसमाज की पुस्तक सत्यार्थप्रकाश में से मैंने बाँच कर सुनाया है कि स्वामी दयानन्द जी ने पीठ की हड्डी में मन टिकाने को लिखा है मेरा यह प्रश्न है कि अपवित्र बस्तु में मन लगाने की विधि तो आर्यसमाज मानता है ! परन्तु शुद्ध स्थान में स्थापित की हुई पवित्र मूर्ति में मन स्थिर करने की विधि से इनकार क्यों करता है ? इस बात को पण्डित जी ने स्पर्श भी नहीं किया। पण्डित जी कहते हैं कि घड़ियाल में भी चित्त स्थिर हो सकता है। पण्डित जी अपनी कही हुई बात को ठीक ठीक मानें तो कम से कम यह बात तो निर्विवाद सिद्ध हो गई कि मन स्थिर करने के लिये किसी जड़ वस्तु की आवश्यकता अवश्य है। आर्यसमाज भले ही देशी मूर्ति को छोड़कर विलायती घड़ी को मन स्थिर करने का साधन बनावे। परन्तु हम सनातनधर्मी तो यज्ञ, हवन और वेद मन्त्रों की ध्वनि से देवालयों में स्थापित की हुई पवित्र मूर्ति को ही भगवान् के चरणों में मन स्थिर करने का एक मात्र साधन मानते हैं। मैंने बताया था कि वेद के षड्विंश ब्राह्मण में देव प्रतिमाओं का हंसना रोना आदि चिन्ह देखते ही शान्ति के लिये खास विधान लिखा है। पण्डित जी ने हमारी इन बातों का कुछ जवाब नहीं दिया। मैंने शुक्रनीति का प्रमाण देते हुवे टूटी फूटी प्रतिमाओं की बाबत

राजाओं का कर्तव्य बताया था, परन्तु पण्डित जी ने उन बातों का स्पर्श भी नहीं किया।

लीजिये! मैं आपको दूसरी और भी बातें बताता हूं कि आर्यसमाज कितनी मूर्तिपूजा करता है। स्वामी दयानन्द जी सत्यार्थप्रकाश के आरम्भ में लिखते हैं कि "त्वमेव प्रत्यक्षं-ब्रह्मासि" अर्थात् हे परमात्मन्! तू प्रत्यक्ष ब्रह्म है। यहाँ आर्य-समाज से हमारा यह प्रश्न है कि प्रत्यक्ष चीज निराकर होती है या साकार? पण्डित जी मैं फिर से आपका ध्यान खींचता हूं कि आपने मेरी इन बातों का कोई जवाब नहीं दिया। कृपा करके सावधान होकर के सुनें और शक्ति हो तो जवाब दें।

(१) गुरुकुल काँगड़ी के वार्षिक उत्सव पर सन् १९१५ में वेद पुस्तकों को सभापति बनाया गया था, वेद जड़ हैं या चेतन? (२) स्वामी दयानन्द जी की बनाई संध्योपासनादि पञ्चमहा-यज्ञ विधि में लिखा है कि चन्दन अक्षत से पृथ्वी की पूजा करे—लीजिये! जो पुस्तक मेरे हाथ में है आप स्वयं यह बांचो! और जनता को सुनाओ! [पण्डित मणिशंकर शास्त्री को बांचने के लिये दिया उन्होंने पुस्तक हाथ में लेकर एक दो पृष्ठ देखकर कहा कि आपकी आवाज वुलन्द है इसे आप ही बांचिये! जो आप बाचेंगे उस पर हमारा विश्वास—प्रमुख बद्रीनाथ जी ने कहा कि—हां हाँ ठीक है! पण्डित माधवाचार्य जी ने कहा—आपके मुख से विशेष शोभा होती] अस्तु! देखिये इसमें साफ लिखा है कि **"शुद्ध भूमि पर आसन बिछाय चन्दन अक्षत से पृथ्वी को पूजे"** (३) यजुर्वेद पृष्ठ १४४ में पटेले का पूजन (४) आर्याभिनय में—सोम औषधि का रस निकाल कर पर-मात्मा को पान कराना। (५) संस्कार विधि में ओखल मूसल

को बलि देना। (६) उस्तरे से बालक की रक्षा के लिये प्रार्थना करना। (७) कुशा (दर्भ) की प्रार्थना करना। (८) छत्री जूता की पूजा करना (९) चन्द्रमा को अर्घ्य देना। (१०) मधुपर्क का निराकार को भोग लगाना और जमीन पर छींटे डालना। (११) सीता (हलकी फरी) के नाम आहुति देना। मकान की दीवालों का नाम लेकर आहुति देना। (१२) सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ९६ में पीठ की हड्डी में मन स्थिर करना। (१३) सत्यार्थ-प्रकाश पृष्ठ ५६५ में मुसलमानों को जवाब देते हुवे स्वामी जी लिखते हैं कि **"तुम जिन हिंदुवों को बुतपरस्त (जड़ उपासक) मानते हो वह बुतपरस्त (जड उपासक) नहीं है, किन्तु वह तो मूर्ति द्वारा परमात्मा की पूजा करसे हैं"**

स्वामी दयानन्द के इन शब्दों से हमारे सिद्धान्त की पूर्ण-तया पुष्टि होती है।

मैंने पण्डित जी के तमाम प्रश्नों का जवाब भली भाँति दे दिया है। और हमारे सब प्रश्न पण्डित जी पर जैसे के तैसे कायम हैं, और मुझे आशा भी नहीं है कि पण्डित जी उन प्रश्नों का जवाब अपने आगामी भाषण में दे सकेंगे। पण्डित जी अपने आखिरी भाषण में मुझसे नवीन प्रश्न नहीं कर सकते, कारण कि मेरा अन्तिम भाषण हो चुका है, अगर पण्डित जी में शक्ति हो तो हमारे प्रश्नों का उत्तर देवें। [घन्टी]

पं० बालकृष्ण जी चौथी बार (टाइम ४-४५)

महाशयो! पण्डित जी ने जो कुछ उत्तर दिया आप लोगों

ने सुन लिया, आप मेरे पर दोष लगाते हैं कि मैंने प्रमाण नहीं दिये। मुझ से प्रमाण रह गये और दूसरे बहुत से प्रश्नों का जवाव समय न होने से रह गया। परन्तु आप ने भी तो मूर्ख अधम, गधा वगैरा बातों का उत्तर नहीं दिया।[1]

(मणिशङ्कर शास्त्री की तरफ इशारा करके) पण्डित जी ने बांचकर सुना दिया है कि यज्ञ में छः महावीर पात्र मिट्टी के बनाये जाते हैं, (मणिशङ्कर शास्त्री बीच में बोल उठे—"पांच कहो पांच" लेकिन बालकृष्ण जी अन्त तक छः ही कहते रहे) —यहां प्रश्न उठता है कि लोहा पित्तल आदि धातु के पात्र क्यों नहीं बनाये जाते? इसका उत्तर यह है कि वह अग्नि से जल्दी गरम हो जाते हैं। इस कारण पूर्णाहुति के पात्र इस प्रकार बनाये जाते हैं। न कि पूजने के लिये मूर्तियां। क्या सनातन-धर्मी जितनी मूर्ति बनाते हैं वह सब मिट्टी की ही बनाते हैं? क्या पत्थर लोहा वगैरा धातु की नहीं बनाते हैं? मैंने मनुस्मृति का प्रमाण दिया था कि परमात्मा का शरीर प्रकृति किस प्रकार है, इसी पुस्तक का आपने भी प्रमाण दिया, यह प्रमाण हमारी पुष्टि में दिया या अपनी पुष्टि में? (जनता जोर से हंसने लगी कि समाजी पण्डित को इतना भी पता नहीं है कि "प्रतिमा द्वारा देवपूजा" सिद्ध करने का प्रमाण मूर्तिपूजा का पोषक है या खण्डक!—लोगों में गड़बड़ाहट देखकर प्रधान जी बोले शाँति……) आपका काम था कि पहिले कुल्लूक भट्ट ने जो

---

(१) टि०—भागवतादि ग्रंथों के अनुसार मृत्तिका पत्थर आदि जड़ वस्तु में पूज्य बुद्धि रखने वाले मूर्ख हो सकते हैं। परन्तु सनातन धर्म तो मूर्ति में व्यापक चेतन परमात्मा की पूजा करता है यह जवाब पूर्व दिया जा चुका है।

देवताओंका अर्थ लिखा है, उसको समझ लेते। ब्राह्मण को भूदेव (पृथ्वी का देव) कहा है बलिवैश्व देव में। जिसे अन्न दिया जाता है उसको इस प्रकरण में देवता कहा है।

आपने कहा कि गुरुकुल में वेद को सभापति बनाया गया था। वेद को मान देने के लिये कदाचित् वैसा हुआ हो।

जिस प्रकार यहां पुस्तक पड़ी है। (हंसी) परमात्मा के प्रत्यक्ष होने पर जो कहा है सो परमात्मा सूक्ष्म बुद्धि से दीख सकता है न कि आंख से। इसी प्रकार यहां (सत्यार्थप्रकाश में) सूक्ष्म बुद्धि से परमात्मा को प्रत्यक्ष करने को लिखा है। (पण्डित मणिशङ्कर ने कहा पण्डित जो ऊखल मूसल का उत्तर दो)हां,हां उसके कितने ही प्रमाण दिये हैं। ऊखल, मूसल छुरा वगैरा का उत्तर इसमें आ गया कि मन्त्र में जो वस्तु आती है वही उसका देवता होता है। मधुपर्क जमीन पर छिड़का जाता है, यहां ऐसा

तो नहीं लिखा कि पृथ्वी उसको खा जावेगी। यह एक प्रकार का विनियोग है, (हंसी) आपने जो शुक्रनीति का प्रमाण दिया[1] हां, हां, प्रतिमा तो आपके यहां ही हंसती रोती होंगी। महाशयो जब अपत्ति आने को होती है तब नक्षत्र आदि ऐसे मालूम होते हैं कि मानों वह हंसते हैं उस समय मनुष्य हवन आदि करे जिससे विघ्न शान्त हो जाएं।—एक भी प्रतिमा हंसती, रोती दिखा दो हम उसके चरणों में पड़ने को तैयार हैं।

सोमरस पान—हाँ आप कहते हैं कि मैंने उसका उत्तर नहीं दिया, परन्तु समय न होने से छूट गया (यह कह पण्डित जी बैठ

टि० (१) हमने शुक्रनीति के प्रमाण से नहीं किंतु षड्विंश ब्राह्मण के प्रमाण से प्रतिमाओं का हंसना रोना बताया था, पं० बालकृष्ण जी को शुक्रनीति का भ्रम हो गया।

गये । प्रमुख ने कहा–अभी मिनट बाकी हैं, फिर खड़े होकर बोले) आपके पुराण मूर्ति पूजकों को गधा कहते हैं । धन्य है ! सनातनी मूर्तिपूजक अन्ध श्रद्धालुवों को !! जो गधा कहाते हुवे भी अपके भक्त बने हैं । स्वामीजी ने हड्डी की पूजा तो नहीं लिखी । परन्तु हड्डी में मन एकाग्र करने की बात लिखी है । (हंसी) देखिये ! सोमरस औषधि का पान-सीधा प्रमाण तो यह है कि जो निराकार है वह तो रस पियेगा ही नहीं । जितने अतिथि वहां आये हैं वह पूजने लायक हैं । इसी कारण उनकी पूजा की सामग्री परमात्मा को अर्पण की जाती है । इससे ऐसा कहा गया है कि प्रभु यह सोम औषधि का रस जो निकाला गया है उसका पान करो ।

(शास्त्रार्थ समाप्त)

समाज का नैतिक अधःपतन !

शास्त्रार्थ बराबर पांच बजे पूरा हुआ। दूसरे शास्त्रार्थ का समय तथा तिथि वगैरा निर्णय होनी थी। इससे जनता सुनने को वैठी रही। आर्यसमाज के प्रधान बद्रीनाथ जी ने जनता की सम्मति पूछी की दूसरा शास्त्रार्थ 'मूर्तिपूजा' पर होना चाहिए-या सनातनधर्म सभा के आग्रहानुसार "दयानन्द कृत ग्रन्थ वेदानुकूल हैं या नहीं" इस विषय पर ? और आज ही शास्त्रार्थ होना चाहिए-या फिर ? जनता बोल उठी कि हम 'लोग रात के आठ बजे तक बैठने को तैयार हैं' जनता के इस कथन पर सभापति जी ने जवाब दिया कि अब समय बहुत हो गया है और आप सब सज्जन यहां अढ़ाई घन्टे से बैठे हो—इसलिए दूसरे शास्त्रार्थ के लिये कोई और समय निश्चित होना चाहिए। आप सब लोगों ने शान्ति से शास्त्रार्थ सुना और भारतीय सभ्यता के आदर्शानुसार चुप रहे इसके लिये मैं आप सब का आभार मानता हूँ।

इस समय पंडित माधवाचार्यजी ने सभापति महाशय से आज्ञा लेकर कहा कि "सनातनधर्म मूर्तिपूजा या किसी भी दूसरे विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिये सर्वदा उद्यत हैं परन्तु जनता की ओर मेरी भी यह इच्छा है कि "स्वामी दयानन्द कृत ग्रन्थ वेदानुकूल हैं या नहीं" इस विषय पर शास्त्रार्थ होना चाहिए। इसलिये सनातन धर्म सभा की तरफ से मैं आर्यसमाज को इस विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिये तारीख १५। ८। २७ सोमवार के रोज सायंकाल पांच बजे सनातन धर्म सभा के हाल में पधारने के लिये आमन्त्रण देता हूँ, और उसके बाद

१६ । ८ । २७ मंगलवार के सायंकाल इसी प्रकार आर्यसमाज की इच्छा होने पर यहां पर शास्त्रार्थ के लिये हम आने को तैयार हैं। इस प्रकार क्रमवार एक दिन यहां और दूसरे दिन वहां चार छः मास—जहां तक आर्यसमाज की इच्छा हो वहां तक शास्त्रार्थ चालू रहे" महाशय बद्रीनाथ जी इस सम्बन्ध में स्वीकृति देने की तैयारी में थे कि आर्यसमाज के मन्त्री बीच में ही टेबल के पास आकर बोल उठे कि 'इस सम्बन्ध में जनता की रजा लेने को कोई आवश्यकता नहीं। आर्यसमाज इस विषय पर विचार करेगा। और शास्त्रार्थ करने का निश्चय होगा तो जनता को सूचना दी जावेगी' इसके बाद आपेसे बाहिर होकर और भी अनुचित बातें कह डाली। जिनका योग्य उत्तर पण्डित माधवाचार्य जी ने क्षण मात्र में दे दिया। और कहा कि यदि आर्यसमाज शास्त्रार्थ में जनता को मध्यस्थ रखना चाहता है तो उसकी मरजी जानने की खास जरूरत है। हमने आर्यसमाज को शास्त्रार्थ के लिये कई बार बुलाया, परन्तु हर वक्त हमारी प्रार्थना को अस्वीकार कर जनता को और हमें भी निराश किया है। इसलिये यह आवश्यक है कि आर्यसमाज जनता की इच्छा का आदर करते हुवे शास्त्रार्थ की सूची अभी दे देवे। पण्डित जी की तरफ से ऐसा उत्तर सुनकर समाज के मन्त्री नाहर सिंह ने खड़े होकर अशिष्ट बातें कहीं। तथा लज्जा को त्याग कर ऐसा भी कह डाला कि "सनातन धर्म सभा शास्त्रार्थ से भागती है" इस असभ्यतायुक्त जवाब को सुनकर जनता की ओर से उसका शरम-शरम, के शब्दों से सत्कार (?) किया गया। और बहुत से मनुष्य उठ खड़े हुवे। ऐसी बातें कहने का तात्पर्य यह था कि किसी प्रकार सनातन धर्मावलम्बी ऐसे कटु वाक्य सुनकर लड़ाई झगड़ा करने को तैयार हो जाएं। और समाज का जो घोर पराजय हुआ है वह

झगड़े के रूप में बदल जावे। परन्तु श्रीकृष्ण परमात्मा की कृपा से सम्पूर्ण सनातनधर्मी शान्ति के साथ इस अपमान को विशाल हृदय से सहन कर गये।

इस प्रकार शान्तिपूर्वक शास्त्रार्थ समाप्त हुआ जनता ने हमारे हजार बार रोकने पर भी तालियों और हर-हर महादेव के जयकारों से सनातन धर्म की जय बुलाई और समाज को शेम २ कह कर धिक्कार पड़ने लगी। समाज मन्दिर से पं० माधवाचार्य जी का जलूस निकाला गया जो २॥ तीन हजार पुरुष के साथ कीर्तन भजन जयजयकार पुकारता रेवर रोड बाजार से होता हुआ सनातनधर्म सभा मन्दिर में पहुंचा, रास्ते में न केवल सनातनधर्मियों ने बल्कि सिखों और मुसलमानों ने भी सैकड़ों शिलिंग के सैन्टों की वर्षा की। मन्दिर में जाकर भगवान् कृष्ण जी के चरणों में खुदसरों ने भी मस्तक झुका दिये। आर्यसमाज ने 'मूर्तिपूजा' विषय इस ख्याल से चुना था कि मुसलमान ईसाई और पाश्चात्य शिक्षा के रंगीले इसके विरुद्ध हैं अतः हमें मुफ्त में विजय प्राप्त होगी परन्तु फल विपरीत निकला।

—:०—

सनातनधर्मियों की उदारता

महाशय रामभाई पटेल और सेठ अमीचन्द्र विज्ञ के शर्तनामे के अनुसार सनातन-धर्मियों ने तो १५ अगस्त सन् १९२७ से पूर्व ही समाज की वेदी पर शास्त्रार्थ करके विज्ञ जी की शर्त को पूरा कर दिया था, परन्तु हमारे बार-बार बुलाने पर भी समाजी

हमारे यहां शास्त्रार्थ करने के लिये नहीं आये, अतः पटेल साहिब का छाँवा (बाग) कानूनन विज्ञ जी का हो गया।

विज्ञ जी एक जोशीले युवक हैं उन्होंने उक्त बाग पर अपना कब्जा करने का दृढ़ निश्चय कर लिया, श्री सनातनधर्म सभा के अन्यान्य युवक सदस्य भी विज्ञ जी के विचार से पूर्ण सहमत थे। इस युवक संघ का विचार था कि शर्त में जीते हुए इस बाग में शास्त्रार्थ का स्मारक एक विशाल **विजय स्तम्भ** खड़ा किया जावे, जो भविष्य में भी दर्शकों को सनातनधर्म के ध्रुव सिद्धान्त, प्रतिमा पूजन का आदेश करता रहे।

म० रामभाई और उसके साथी समाजियों ने भी यह खूब समझ लिया था कि कानूनन हम बाग के मालिक नहीं रह सकते, अतः गुप्त रीति से शहर के प्रतिष्ठित सज्जनों द्वारा, तथा इन्डियन एसोसियेशन और हिन्दू यूनियन के मान्य पदाधिकारियों द्वारा हमें—उक्त विचार को स्थगित करने के लिये विवश किया जाने लगा। सनातनधर्मी तो स्वभावतः उदारचेता होते हैं उस पर भी गण्य मान्य सज्जनों की सिफारिशें पहुंची, श्री सनातनधर्म सभा के अधिकारियों ने विज्ञ जी को और अपने युवकों को सांपों को दूध पिलाने का सनातनधर्म का उच्च आदर्श समझा बुझाकर किसी प्रकार शान्त किया, जनता ने इस उदारता की भूरी-भूरी प्रशंसा की।

शास्त्रार्थ का फल

आनरेबुल मिस्टर अहमदहुसेन अहमदी (M. L. C.)

(मेम्बर आफ लेजिस्लेटिव कौंसिल केनिया) का—

निर्णय*

मेरी सम्मति में सनातनधर्मी पंडित ने इस शास्त्रार्थ में पूर्ण रीति से सिद्ध कर दिखाया कि न केवल वेद में ही बल्कि आर्यसमाज के मान्य ग्रन्थों में भी मूर्तिपूजा की शिक्षा मौजूद है।

आर्यसमाज की तरफ से जो दलाइल दी गईं वे चाहें कितनी ही मजबूत क्यों न मान ली जावें उनसे ज्यादह से ज्यादह यही सिद्ध हो सकेगा कि मूर्तिपूजा बुद्धि ग्राह्य नहीं, परन्तु इससे इस बात का समथन नहीं होता कि वेदों और आर्यसमाज की पुस्तकों में मूर्तिपूजा की तालीम नहीं।

इस शास्त्रार्थ में जहां तक मैं उपस्थित जनता—(जिसमें कि हर मजहबोमिल्लत के लोग शामिल थे)—के ख्यालात का

---

* टिप्पणी—संसार में मुसलमानों से बढ़कर मूर्तिपूजा का विरोधी दूसरा कोई सम्प्रदाय नहीं, उन में भी अहमदी फिर्का तो—नींम चढ़े करेले का—उदाहरण है। आर्यसमाज ने यही समझ कर जनता के माध्यम द्वारा मलिक साहिब को राय देने का अवसर दिया था, परन्तु सत्य में भी कुछ अलौकिक शक्ति होती है जिससे प्रेरित होकर एक अहमदी सज्जन ने स्वयं मूर्तिपूजा का कट्टर शत्रु होते हुए भी निष्पक्षभाव से उपर्युक्त निर्णय समाज को लिख भेजा, उसी की एक प्रति हमें भी पहुंचाई,

अन्दाजा लगा सकता हूँ–यह मालूम होता है कि बहुसंख्यक जनों की यही धारणा थी कि आर्य पंडित सनातनधर्मी पंडित के मुकाबले में नाकामयाब रहा।

नैरोबी (ह०) मलिक अहमद हुसेन अह्मदी
२६-८-२७
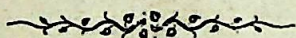
अफ्रीकन पत्रों की सम्मतियां

"केनिया डेलीमेल" मुंबासा (गुजराती से परिवर्तित)

(इस पत्र के मालिक वा सम्पादक आनरेबुल श्री जे० पी० पंड्या उक्त शास्त्रार्थ में उपस्थित थे)

"...आर्यसमाज की पुस्तकों में से पं० माधवाचार्य जी ने पटेले की उस्तरे की तथा पृथिवी की पूजा निकाल कर दिखाई,...स० ध० सभा के पण्डित माधवाचार्य युवक थे उनकी ओजस्वी वक्तृता जनता के मन में घर कर लेती थी, जिससे ऐसा प्रतीत होता था कि मानों सारी जनता इन्हीं के पक्ष की समर्थक है। युवक होने पर भी पण्डित जी ने अपनी भाषा और शब्दों पर पूरा कंट्रोल रक्खा और एक गृहस्थ की

ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदत्व पर टी० बो० साहिब का निर्णय, और मातृ-श्राद्ध पर श्री मैक्समूलर का निर्णय तो आर्यसमाज के लिये हरी झंडी थे ही–अब मूर्तिपूजा पर मलिक साहिब का यह निर्णय सनातनधर्म का नया तीसरा विजय–स्तम्भ और खड़ा हो गया ! क्या अब भी आर्य-समाजी सनातनधर्मियों के सामने इन विषयों पर ऊंचा मस्तक कर बोलने का साहस करेंगे ?

तरह अपने विषय पर गम्भीरतापूर्वक बोलते रहे, एक दूसरे को उत्तेजित करे या उश्केरे ऐसे वचन प्रयोग से वे सर्वथा दूर रहे।

...आर्यसमाज के पं० वृद्ध थे, शास्त्रार्थ के समय उत्तर देते हुए विषय को संभाल नहीं सकते थे, ऐसे प्रसंगों में जिस प्रकार की वक्तृता की आवश्यकता थी अथवा लोगों को जिस रीति से प्रमाण और युक्तियों द्वारा समझाना चाहिए था—उनकी वक्तृता उस कोटि की नहीं थी। सनातन धर्म सभा के पंडित इस शास्त्रार्थ के लिए पूर्ण रीति से तैयार जान पड़ते थे। अपने अन्तिम भाषण में आपने बहुत से सवालों और प्रमाणों से वकील की तरह बहुत सारगर्भित उपसंहार किया, सनातनी भाई बहुत प्रसन्न दीख पड़ते थे, और शहर में भी जनता की ऐसी धारणा थी कि सनातनी भाइयों की विजय हुई। श्रोता जन भी यही मानते थे।

"डेमोक्रेट" नैरोबी (ता० २७-८-२७)

(इस पत्र के गुजराती विभाग के सम्पादक श्री अमृतलाल गोकुलदास महता भी शास्त्रार्थ में उपस्थित थे)

पण्डित माधवाचार्य जी ने वेद पुराणों और समाज की तरफ से भारत में छपाई हुई पुस्तकों द्वारा तथा युक्ति प्रत्युक्तियों से मूर्तिपूजा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया,—इस सिद्धान्त के खंडन वा उत्तर में पं० बालकृष्ण जी ने "अमुक पुस्तकें समाज को मान्य नहीं" ऐसा कहा, और साकार निराकार सम्बन्धी विषयान्तर का इशारा किया, पं० माधवाचार्य जी के

प्रमाणों को रद्द करने के बदले व्यर्थ ही समय खोया हमारी ऐसी मान्यता है।

"एक श्रोताजन"
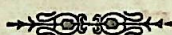
भारतीय पत्रों की सम्मतियां

"सिन्धु समाचार" शिकारपुर (ता० १०-१-२७)

नैरौबी (केनिया) के समाजियों ने बेरहमी से हिन्दू संगठन का गला घोंट कर फूट का बीज बोया था, अब न्यायकारी ईश्वर ने आर्यसमाजियों के इस महापाप का जो फल उन्हें चखाया है वह भी "अत्युग्रपापपुण्यानामत्रैव फलमश्नुते" का एक ज्वलन्त उदाहरण है, जिससे फूट फैलाने वाले शरारत पसन्द महाशय चाहें तो पर्याप्त शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं...... स्वयं चेलेंज देकर बार बार बुलाने पर भी शास्त्रार्थ में सामने नहीं आये. और लेख-बद्ध शास्त्रार्थ में भी सत्यार्थ प्रकाश लिखित योनि संकोचनादि की वैदिकता सिद्ध करने की धृष्टता से जनता में काफी हंसी कराई......

"भागीरथ" मुम्बई (७-१-२७)

"केनिया में सनातनधर्म की विजय दुन्दुभि"

वह दृश्य भी देखे बनता था जब कि सनातन धर्मी बार बार पत्र लिखकर बुला रहे थे और आर्यसमाजी चुप साधने में मुर्दों से शर्त लगाये बैठे थे। समाज के यहां तीन पण्डित मौजूद थे परन्तु सामने आने का एक को भी साहस नहीं था, जनता ने समाज की इस निर्बलता पर और खुद ही चेलेंज देकर भाग

जाने पर खूब कहकहे जगाए।...१४-८-२७ को पं० माधवाचार्य शास्त्री तीन चार सौ सनातन धर्मियों सहित समाज मन्दिर में पहुंचे...वेद पुराणों और अकाट्य युक्तियों द्वारा "मूर्तिपूजा" विषय का समर्थन किया, बहुत से शास्त्रार्थ देखे सुने और किये... परन्तु ऐसा शास्त्रार्थ—जिसमें कि सब श्रोता और स्वयं समाजी भो एक स्वर से समाज की करारी हार स्वीकार करते हों, यही देखा है।

रोशनलाल शर्मा

जागृत (लायलपुर)

(मन्त्री सनातनधर्म-प्रतिनिधि-सभा द्वारा)

सनातनधर्म-प्रतिनिधि-सभा पंजाब की ओर से श्रीमान् पं० माधवाचार्य जी शास्त्री नैरोबी (अफ्रीका) में सनातनधर्म का प्रचार कर रहे हैं। जनता आपके पुराण-सम्बन्धी व्याख्यानों को बड़े प्रेमपूर्वक सुनती रही।

इस आर्यसमाज ने श्रीमान् पं माधवाचार्य जी को मूर्तिपूजा विषय पर शास्त्रार्थ का निमन्त्रण दे डाला था। जिसको स० ध० सभा ने स्वीकार किया और १४ अगस्त को बड़ा भारी शास्त्रार्थ निश्चित हुआ था। अब नैरौबी से आये हुए तार (Cable) से पता चलता है कि इस शास्त्रार्थ में आर्यसमाजी पंडित की घोर पराजय हुई, और नैरौबी की हिन्दू-जनता पर सनातनधर्म-सिद्धान्तों धाक बैठ गयी है।

"श्री वैंकटेश्वर समाचार" बम्बई ९-९-२७

—नियमानुकूल स० घ० की ओर से पं० माधवाचार्य जी ने आध घण्टे तक वेद प्रमाणों और अकाट्य युक्तियों द्वारा मूर्ति पूजा विषय की स्थापना की और समाजकी ओर से इस विषय पर प्राय: जो हुज्जतें हुवा करती हैं उनका भी एक एक करके ओजस्वी भाषा में खण्डन किया। इसके वाद महाशय बालकृष्ण बम्बई वाले आध घण्टे तक बोले परन्तु सरस्वती देवी ने आप की जिह्वा पर ऐसा ताला लगाया कि न तो आप पं० माधवाचार्य जी के वेद प्रमाणों और युक्तियों की छू सके और न स्वयं मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रमाण दे सके। इसके बाद बारी २ से पन्द्रह २ मिनट तक दोनों पक्षके पण्डित ३, ३ बार बोले। पं बालकृष्ण अपने पन्दरह मिनट कठिनाई से पूरे कर पाते थे, एक बार तो ४ मिनट शेष रहते हुवे समय से पूर्व ही धम से वैठ गए– पं० जी का सहायक-शास्त्री कहा जाने वाला मणिशङ्कर भी बीच २ में प्रमाण पढ़ने के लिये नियम विरुद्ध उठा, उस समय जनता ने यह बात खूब ताड़ी कि, समाज के शास्त्रियों को शुद्ध हिन्दी भाषा भी नहीं आया करती। जो सम्प्रदाय मूर्तिपूजक नहीं है वे भी बोल उठे कि "गो हम बुतपरस्त नही हैं परन्तु आज के शास्त्रार्थ से यह खूब निश्चित हो गया कि वेद और शास्त्रों मूर्तिपूजा का विधान है, तथा दयानन्दी ग्रन्थों में भी इस की कमी नहीं"

(श्रीरस्तु)

❀

हमारा सनातनीय साहित्य

अथर्ववेद (सनातन भाष्य सहित) प्रथम भाग २५)

अथर्ववेद (सनातन भाष्य सहित) द्वितीय भाग ३५)

क्यों (पूर्वार्द्ध)

दिन-चर्या जीवन-चर्या, षोडश संस्कार, मुहूर्त, अभिवादन-विज्ञान, गोमहिमा, समुद्र-यात्रा विचार आदि विषयों पर प्रामाणिक वैज्ञानिक विवेचनापूर्ण अद्वितीय ग्रन्थ । मूल्य १२-००

क्यों (उत्तरार्द्ध)

अवतार, मूर्तिपूजा, वर्ण-व्यवस्था, श्राद्ध, तीर्थ, व्रत, त्योहार पर्व, देवता, उनके स्वरूप, वाहन, अश्वमेघादि विषयों पर उत्तम वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करने वाला अनुपम ग्रन्थ मूल्य १५-००

पुराण-दिग्दर्शन

पुराण सम्बन्धी आक्षेपों का निराकरण करते हुए पौराणिक कथाओं पर वैज्ञानिक विचार प्रस्तुत करने वाला, बड़े २ विद्वानों से सम्मानित अपूर्व पुस्तक । मूल्य १५-००

वेद-दिग्दर्शन

वेदों को गडरियों का गीत बतलाने वाले नव शिक्षितों का भ्रम भंजक, एवं सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का परिचायक । ८-००

सनातन संस्कार विधि

गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त सब संस्कारों का और गंडमूल शान्ति, गोदान, आदि का शास्त्रीय विधान । मूल्य ८-००

दृष्टान्त-दिग्दर्शन

यथानाम तथा गुण, रोचक दृष्टांतोंका दुर्लभ संग्रह मूल्य १० रु.

सार्वभौम हिन्दू

विश्व के कोने २ में करोड़ों की संख्या में फैले हिन्दू-समाज की स्थिति का परिचय देने वाली पुस्तक । मूल्य ४-००

शास्त्रार्थ-पंचक	५-००	ओंकार शिवलिंग	०-७५
शास्त्रार्थ-महारथी	४-००	लबड़ धौं धौं	०-७५
डाक्टरी गाइड	४-००	प्रेरककथाएं	०-७५
त्याग बलिदानांक	४-००	गोपाल सहस्रनामस्तोत्र	०-५०
मंत्रालोक	३-००	गृहलक्ष्मी	०-५०
काशी शास्त्रार्थ विजय	३-००	धर्म शिक्षा भाग १	०-५०
विविध रामायण	३-००	धर्म शिक्षा भाग २	०-५०
पुराण-दिग्दर्शन परिशिष्ट	२-००	सन्ध्या-तर्पण	०-५०
सनातन-धर्म	२-००	राजधनवार शास्त्रार्थ	०-३५
हैदराबाद के ४ शास्त्रार्थ	२-००	हमारा गोधन	०-३५
हमारे पर्व त्यौहार	२-००	कृष्णस्तु भगवान् स्वयं	०-३५
श्राद्ध-विज्ञान	२-००	राधा कृष्ण	०-३५
हिन्दू और हिन्दुराष्ट्र	२-००	टुडे स्मृति	०-३५
शिखा-सूत्र	२-००	पुराण प्रश्नोत्तर माला	०-३५
अन्त्येष्टि कर्मपद्धति	२-००	रास लीला	०-३५
नित्यकर्म विधि	१-००	आँख का शहतीर	०-३५
गंगालहरी	१-००	ग्रहपूजन विज्ञान	०-३५
मर्यादा पुरुषोत्तम राम	१-००	पुराणों के परब्रह्म कृष्ण	०-३५
शल्यो जेष्यति पाण्डवान्	०-७५	ब्रह्मा पुत्री	०-२५
श्रीगणेश	०-७५	विष्णु बृन्दा	०-२५
परतत्त्व-दिग्दर्शन	०-७५	चीर हरण	०-२५
विवाह-विज्ञान	०-७५	पराजय पञ्चक	०-२५
उपासना रहस्य	०-७५	स०प्र० की छीछालेदर	०-२५
लोकालोक मासिक	८-००		

चारों वेदों का सायणानुसारी सनातन भाष्य मुद्रित हो रहा है ।